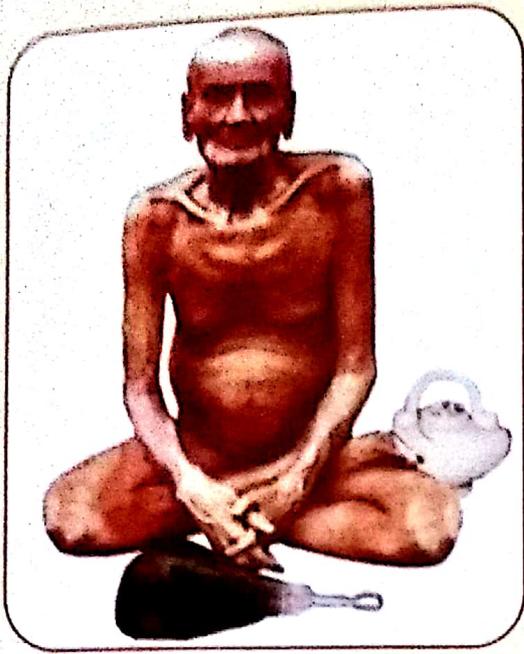
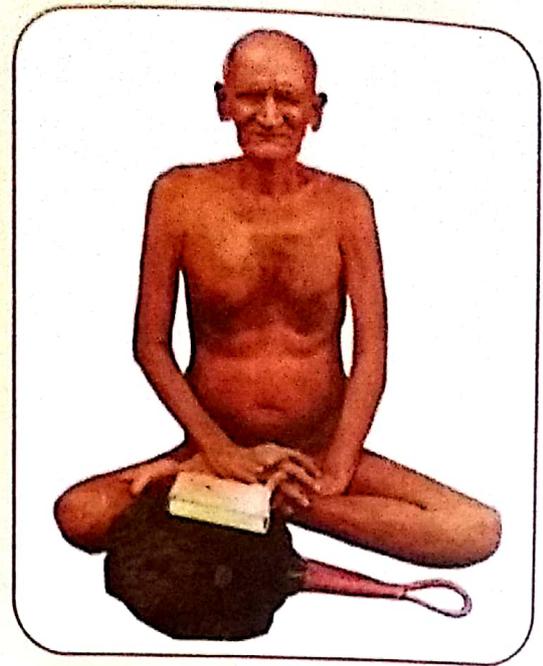


न्यायसार

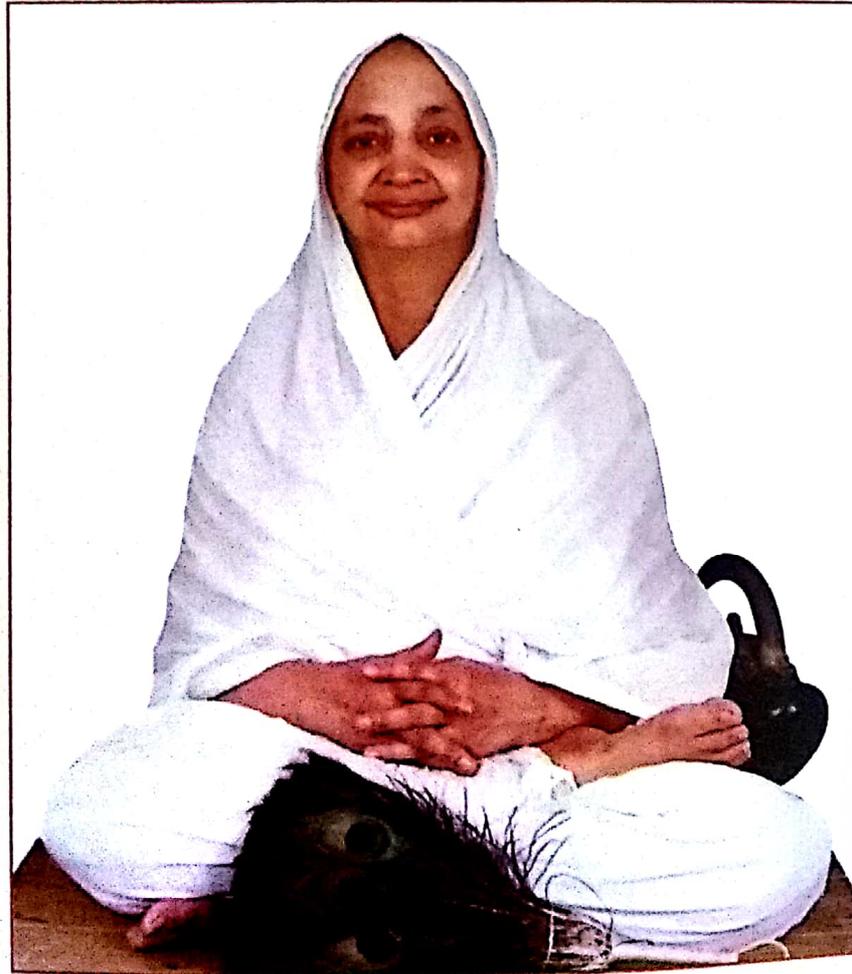
-लेखिका-
गणिनीप्रमुख आर्यिका ज्ञानमती



बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य
चारित्रचक्रवर्ती
श्री शांतिसागर जी महाराज



आचार्य श्री शांतिसागर जी के
प्रथम पट्टाधीश एवं पूज्य गणिनी
श्री ज्ञानमती माताजी के आर्यिका दीक्षागुरु
आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज



जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी परमपूज्य
गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं.415

ISBN 978-93-84003-03-6

न्यायसार

-लेखिका-

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम शिष्य प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की सुशिष्या, जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी, वाग्देवी, चारित्रचन्द्रिका, तीर्थोद्धारिका, राष्ट्रगौरव, युगप्रवर्तिका, सिद्धान्तचक्रेश्वरी, 250 से अधिक ग्रंथों की लेखिका, दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के 80वें जन्मजयंती महोत्सव वर्ष
(अमृत महोत्सव-2013-2014) के अन्तर्गत प्रकाशित



-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.फोन नं.- (01233) 280184, 280994

Website : www.jambudweep.org www.encyclopediaofjainism.com

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com Facebook : [jaintirthjambudweep](https://www.facebook.com/jaintirthjambudweep)

प्रथम संस्करण

1100 प्रतियाँ

वीर नि. सं. 2540

फाल्गुन कृ. चतुर्दशी, 28 फरवरी 2014

भगवान वासुपूज्य जन्मजयंती

मूल्य

64/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं बृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्द्रनामती माताजी

(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: निर्देशक एवं सम्पादक :-

स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

-: प्रबंध सम्पादक :-

जीवन प्रकाश जैन

— सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन —

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

मध्यमा एवं विशारद कोर्स—न्याय विषय की पाठ्यक्रम पुस्तक
गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती दिगम्बर जैन शिक्षा केन्द्र, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान-टिकैतनगर (वाराणसी) उ.प्र.

जन्मतिथि-आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991, (22 अक्टूबर सन् 1934)

जाति-अग्रवाल दि. जैन, गोत्र-गोयल, नाम-कु. मैना

माता-पिता-श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत-ई. सन् 1952, वाराणसी में शरदपूर्णिमा के दिन

क्षुल्लिका दीक्षा-चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से। नाम-क्षुल्लिका वीरमती

आर्यिका दीक्षा-वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व-अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं लगभग 300 ग्रंथों की लेखिका।

डी.लिट्. की मानद उपाधि-सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा एवं तीर्थकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद द्वारा 8 अप्रैल 2012 को "डी.लिट्." की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा-हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप, तेरहद्वीप, तीनलोक आदि रचनाओं के निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थकर जन्मभूमियों का विकास यथा-भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंदावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा, महावीर जी तीर्थ पर महावीर धाम में पंचबालयति मंदिर, शिर्डी में ज्ञानतीर्थ, सम्मेदशिखर में आचार्य श्री शांतिसागर धाम इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा-पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। विशेषरूप से 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।

शैक्षणिक प्रेरणा-'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार, ऑनलाइन जैन इनसाइक्लोपीडिया आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा-जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहीं, यही मंगल कामना है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

-कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से सन् 1972 में राजधानी दिल्ली में हुई थी। संस्थान का मुख्य कार्यालय सन् 1974 से हरितनापुर में प्रारंभ हुआ। इस संस्थान के अन्तर्गत अनेक गतिविधियाँ हरितनापुर में तथा अन्यत्र चल रही हैं-

1. सन् 1972 से वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत प्रतिवर्ष लाखों ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं।
2. सन् 1974 से इस संस्थान के मुखपत्र के रूप में 'सम्यग्ज्ञान' हिन्दी मासिक पत्रिका का निरंतर प्रकाशन हो रहा है।
3. सन् 1974 से 1985 तक हरितनापुर में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण कार्य हुआ।
4. सन् 1974 से अब तक जम्बूद्वीप रचना के अतिरिक्त अनेक जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है-कमल मंदिर, तीन मूर्ति मंदिर, ध्यान मंदिर, शांतिनाथ मंदिर, वासुपूज्य मंदिर, ॐ मंदिर, राहस्रकूट मंदिर, विद्यमान बीस तीर्थकर मंदिर, आदिनाथ मंदिर, अष्टापद मंदिर, ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ, स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना, तीन लोक रचना, नवग्रहशांति जिनमंदिर, चौबीस तीर्थकर मंदिर एवं श्री शांतिनाथ-कुंधुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग प्रतिमाओं की स्थापना।
5. जम्बूद्वीप पुस्तकालय जिसमें लगभग 15000 ग्रंथ संग्रहीत हैं।
6. णमोकार महामंत्र बैंक जिसमें भक्तों द्वारा लिखकर भेजे गये करोड़ों णमोकार मंत्र जमा किये जाते हैं।
7. समय-समय पर शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों तथा संगोष्ठियों के आयोजन किये जाते हैं।
8. यात्रियों के शुद्ध भोजन के लिए राजा श्रेयांस भोजनालय का संचालन।
9. यात्रियों के ठहरने के लिए आधुनिक सुविधायुक्त डीलक्स फ्लैट्स वाली कई धर्मशालाओं तथा कोठियों एवं बंगलों का निर्माण किया गया है।
10. जम्बूद्वीप परिक्रमा के लिए नौका विहार, ऐरावत हाथी तथा मनोरंजन हेतु मिनी ट्रेन, झूले आदि हैं।
11. तीर्थकर जन्मभूमियों की वंदना एवं धार्मिक फिल्मों का प्रदर्शन करने वाले थियेटर से समन्वित गणिनी ज्ञानमती हीरक जयंती एक्सप्रेस।
12. गणिनी ज्ञानमती दिगम्बर जैन पत्राचार परीक्षा केन्द्र का संचालन।
13. इंटरनेट पर जैनधर्म के इन्साइक्लोपीडिया (www.encyclopediaoofjainism.com) का निर्माण। दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, हरिद्वार, झाँसी, तिजारा आदि से जम्बूद्वीप स्थल तक आने के लिए दिन भर बसें मिलती रहती हैं।

दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार में भव्य नंदावर्त महल तीर्थ, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में निर्मित तीर्थकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ तथा महावीर जी अतिशय क्षेत्र के महावीर धाम परिसर में निर्मित पंचबालयति दिगम्बर जैन मंदिर का संचालन होता है। वर्तमान में इस संस्थान के अन्तर्गत सम्मेदशिखर जी तीर्थ पर "आचार्य श्री शांतिसागर धाम" का निर्माण प्रारंभ किया जा रहा है।

जम्बूद्वीप एवं अन्य रचनाओं के दर्शन हेतु हरितनापुर पधारकर आध्यात्मिक एवं भौतिक सुख की प्राप्ति करें।

विषय-दर्पण

	पृ.			पृ.
मंगलाचरण	१	उदाहरण के भेद		५
इन तीनों में से अब यहां लक्षण के भेद कहने हैं	२	अन्वय दृष्टांत का स्वरूप		५
लक्षणाभास को बताते हैं	३	व्यतिरेक दृष्टांत का स्वरूप		६
लक्ष्य किसे कहते हैं	३	उपनय का लक्षण		६
प्रमाण-समीक्षा		निगमन का स्वरूप		६
प्रमाण का लक्षण	४	अनुमान के भेद		६
श्री: माणिक्यनंदि आचार्य प्रमाण का लक्षण		हेतु के भेद		६
करते हैं	४	अविरुद्धोपलब्धि के भेद		१०
ज्ञान ही प्रमाण क्यों है ?	५	विरुद्धोपलब्धि के भेद		१०
प्रमाण के भेद और लक्षण	५	अविरुद्धानुपलब्धि के भेद		१०
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण	५	विरुद्धानुपलब्धि के भेद		१०
पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण	५	अन्य हेतु भी इन्हीं बाईस हेतुओं में शामिल हैं		१२
परोक्ष प्रमाण का लक्षण	५	व्युत्पन्न जनों की अपेक्षा अनुमान के		
परोक्ष प्रमाण के भेद	५	अवयवों के प्रयोग का नियम		१२
स्मृति प्रमाण का लक्षण	५	व्युत्पन्न प्रयोग की उदाहरणद्वारा पुष्टि		१२
प्रत्यभिज्ञान का लक्षण	६	आगम का स्वरूप		१२
प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण	६	शब्द से वास्तविक अर्थ बोधहोने का कारण		१२
तर्क प्रमाण का लक्षण	६	प्रमाण के भेद लक्षण और विशेषतायें		१३
व्याप्ति ज्ञान का स्वरूप	६	इसमें भी हेतु के लक्षण को यहाँ दिखाते हैं		१५
अनुमान का लक्षण	६	साध्य का लक्षण		१५
साधन का लक्षण	७	नय का लक्षण		१७
अविनाभाव का स्वरूप और भेद	७	प्रमाण की सच्चाई का निर्णय कैसे होता है ?		१७
सहभाव का लक्षण व उदाहरण	७	प्रमाण का विषय		१८
क्रमभाव का लक्षण	७	वस्तु अनेकातात्मक ही है		१८
व्याप्ति ज्ञान का निर्णय कैसे होता है ?	७	सामान्य के भेद		१८
साध्य का स्वरूप	७	तिर्यक् सामान्य का लक्षण और दृष्टांत		१८
अनुमान के दो अंग होते हैं	८	उर्ध्वता सामान्य का स्वरूप और दृष्टांत		१८
कदाचित् जेनाचार्य भी पांच अवयव मान लेते हैं	८	विशेष के भेद		१९
		पर्याय विशेष का स्वरूप और उदाहरण		१९

व्यतिरेक का लक्षण और उदाहरण	पृ. १६	वाल प्रयोगाभास का लक्षण	पृ. २८
प्रमाण का फल	१६	आगमाभास का लक्षण	२८
प्रमाण से प्रमाण का फल भिन्न है या अभिन्न	१६	आगमाभास के उदाहरण	२८
प्रमाण से फल अभिन्न कैसे हैं ?	१६	प्रमाण के विषयाभास का लक्षण	२६
प्रमाणाभास का वर्णन		प्रमाण के फलाभास का वर्णन	२६
बौद्धाभिमत प्रमाण लक्षण का विचार	२०	परोक्ष प्रमाण	२६
भाट्टों के प्रमाण लक्षण की परीक्षा	२०	स्मृति का लक्षण	२६
प्रभाकर के प्रमाण लक्षण की समीक्षा	२०	धारावाहिक ज्ञान का लक्षण	३०
नैयायिक के प्रमाण लक्षण की परीक्षा	२१	प्रत्यभिज्ञान का लक्षण	३०
अन्य मतावलंबियों द्वारा मान्य प्रमाण के		तर्क प्रमाण	३१
भेदों का विचार	२१	अनुमान का लक्षण	३१
बौद्धों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण का खंडन	२२	स्वार्थानुमान के अवयव	३१
योगाभिमत सन्निकर्ष का खंडन	२३	परार्थानुमान	३१
प्रत्यक्ष प्रमाणाभास का लक्षण	२४	नैयायिक द्वारा मान्य अनुमान के पांच	
परोक्षाभास का स्वरूप	२४	अवयव	३१
स्मरणाभास का लक्षण	२५	विजिगीषु कथा	३३
प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप	२५	वीतराग कथा	३३
तर्काभास का लक्षण	२५	बौद्ध के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण	३३
अनुमानाभास का लक्षण	२५	जैनाचार्यों द्वारा पांचरूप्य हेतु का खंडन	३५
बाधित के भेद	२५	केवलान्वयी हेतु	३५
प्रत्यक्षबाधित का दृष्टांत	२६	केवल व्यतिरेकी का कथन	३६
अनुमान बाधित	२६	अन्वय-व्यतिरेकी हेतु का उदाहरण	३६
आगम बाधित	२६	पांचरूप्य त्रैरूप्यहेतु हेत्वाभास क्यों है ?	३७
लोक बाधित	२६	बौद्ध के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण	३७
स्ववचन बाधित पक्षाभास का उदाहरण	२६	नैयायिक के पांचरूप्य हेतु का खंडन	३७
हेत्वाभास के भेद	२६	आगम का लक्षण	३८
असिद्ध हेत्वाभास	२६	आप्त का लक्षण	३८
विरुद्ध हेत्वाभास	२७	प्रमाण का विषय	३८
अनैकांतिक हेत्वाभास	२७	प्रमाणों के बारे में विशेष समीक्षा	
अर्किचित्कर हेत्वाभास	२७	प्रमाण विचार	३६
	२७	वैशेषिक-नैयायिक	३६

	पृ.		पृ.
प्रमाण के भेद का विचार	४३	सन्निकर्ष के छह भेद	६४
प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार	४४	मीमांसा दर्शन	६५
सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष	४६	वेदांत दर्शन	६७
मुख्य प्रत्यक्ष	४६	जैन दर्शन	६८
परोक्ष प्रमाण का विचार	[४६	सभी दार्शनिकों के मुख्य-मुख्य सिद्धांत	६९
परोक्ष के भेद-प्रभेद पर विचार	४७	इन सबके प्रमुख गुरु एवं मतों के नाम	७०
अनुमान के अर्थव्यव	४८	ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व का खंडन	७५
हेतु के लक्षण पर विचार	४९	सांख्य की आप्त-समीक्षा	७७
हेतुवाभास पर विचार	४९	बुद्ध की आप्त समीक्षा	७८
आगम प्रमाण का विचार	४९	ब्रह्माद्वैतवादी की ब्रह्म समीक्षा	७९
अपौरुषेय वेद का विचार	५०	तत्त्व-समीक्षा	
जनों द्वारा मान्य आगम का लक्षण	५१	तत्त्व विचार	८६
अभाव का विचार	५१	आत्म समीक्षा	
प्रमेय समीक्षा		आत्मा का विचार	८७
दर्शन शब्द का महत्व और आधार	५३	ज्ञान का विचार	९०
चार्वाक मत	५४	संसार तत्त्व का विचार	९४
बौद्ध दर्शन	५६	मोक्ष तत्त्व का विचार	
अनुमान का लक्षण	५८	संसार कारण तत्त्व	१०२
सांख्य मत	५९	मोक्ष के कारण का विचार	१०७
सांख्य के २५ तत्त्व	६०	अद्वैतवाद विचार	११३
वैशेषिक दर्शन	६२	शब्दाद्वैतवाद विचार	११३
प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	६४		



गणिनी आर्यिका

श्री ज्ञानमती दिगम्बर जैन शिक्षा केन्द्र

-जीवन प्रकाश जैन, समन्वयक

सन् 1972 में परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना की गयी। इस संस्थान ने अपने इतिहास में अनेक तीर्थों के जीर्णोद्धार-विकास-ग्रंथों के प्रकाशन व राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के अनेकानेक भव्य आयोजन आदि करके सदा जैन संस्कृति की प्रभावना की। इसी क्रम में वर्ष-2010 में संस्थान द्वारा गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती दिगम्बर जैन शिक्षा केन्द्र की स्थापना की गयी। जिसमें प्रतिवर्ष हजारों श्रावक-श्राविकाओं ने भाग लेकर ज्ञानार्जन किया एवं अपनी शिक्षा के अनुरूप प्रमाण-पत्र भी प्राप्त किये। पुनः वर्ष 2013 से विशेष उपलब्धिपूर्वक इस संस्थान द्वारा शिक्षा केन्द्र का संचालन तीर्थकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद के संयुक्त तत्वावधान में किया जा रहा है।

इस शिक्षा केन्द्र की स्थापना का मुख्य उद्देश्य जैन श्रावक-श्राविकाओं को धर्म के ज्ञान से अभिसिंचित करना एवं उन्हें समाज में लब्ध प्रतिष्ठित करने हेतु विशेष सर्टिफिकेट/डिप्लोमा/डिग्री के माध्यम से सम्मानित करना है। इस शिक्षा केन्द्र के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के कोर्स संचालित किये गये हैं, जिसे नियमावली के अनुसार सभी श्रावक-श्राविकाएँ ज्ञानाराधना के लिए ज्वाइन कर सकते हैं। पूज्य माताजी का यह मार्मिक चिंतन है कि जैनधर्म के बंधुओं को सांसारिक व लौकिक ज्ञान के साथ ही जैनधर्म का ज्ञान अवश्यरूप से होना चाहिए, क्योंकि जैनधर्म के सिद्धान्तों को जानकर ही हमारी आत्मा विशुद्धि को प्राप्त करती है एवं धर्म के ये संस्कार आगामी अनेक भवों तक प्रत्येक आत्मा का मोक्षमार्ग प्रशस्त करते हुए उन्हें संसार भ्रमण से दूर करने में सहयोगी बनते हैं।

“ज्ञानामृतं भोजनं” अर्थात् ज्ञानरूपी अमृत ही आत्मा का भोजन है, यही इस शिक्षा केन्द्र का मूल उद्देश्य है। पाठकगण इन परीक्षा कोर्स में अभिरुचि के साथ भाग लेकर जैनधर्म के “सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, साहित्य व विधिविधान” से संदर्भित ज्ञान को प्राप्त करते हुए प्रवेशिका/मध्यमा/विशारद/शास्त्री/आचार्य के सर्टिफिकेट/डिप्लोमा/डिग्री आदि प्राप्त करके जैनधर्म की महती प्रभावना के साथ अपनी यशकीर्ति को भी दिग्दिगंतव्यापी बनायें, ऐसी प्रेरणा है।

-संपर्क कार्यालय-

C/o दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

फोन नं.-01233-280184, मो.-09411025124

E-mail : onlineccjs@gmail.com, Website : www.jambudweep.org

(8)

ॐ

श्री अकलंकदेवाय नमः

न्यायसार

मंगलाचरण

सिद्धान् सर्वान् नमस्कृत्य, न्यायशास्त्रानुसारतः ।

न्यायशास्त्रप्रवेशार्थं, न्यायसारं प्रवक्ष्यहं ॥

जैन सिद्धांत में न्याय शास्त्र कसौटी के पत्थर सदृश हैं जिनके द्वारा सत्य असत्य की परीक्षा की जाती है। कसौटी के पत्थर पर कसा हुआ सुवर्ण शुद्ध कहलाता है उसी प्रकार इन न्याय शास्त्रों में सच्चे आप्त, सत्य प्रमाण एवं सत्य पदार्थों को तर्क की कसौटी पर कसकर शुद्ध माना जाता है। श्री समंत-भद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा स्तोत्र में आप्त को तर्क की कसौटी पर कस कर उन्हें सत्य मानकर नमस्कार किया है। अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थों में स्वामी श्री सिद्धसेन दिवाकर, स्वामी भट्टाकलंक देव, आ० माणिक्यनंदि एवं अष्टसहस्री के कर्ता आचार्य श्री विद्यानन्द आदि महान् महान् आचार्यों ने विशद रीति से आप्त-आप्ताभास, प्रमाण-प्रमाणाभास आदि का वर्णन किया है। अष्टसहस्री, प्रमेयकमल-मार्तंड, श्लोकवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्रोदय, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों को सरलता से समझने के लिए श्री माणिक्यनंदि आचार्य का परीक्षामुख श्री धर्मभूषणयति विरचित न्यायदीपिका आदि लघु पुस्तकें भी विद्यमान हैं। फिर भी आजकल प्रायः न्याय ग्रन्थ पढ़ने की रुचि नहीं रही है। जबकि अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थों में बहुत से प्रकरण स्याद्वाद प्रक्रिया से बहुत ही रुचिकर और सरल हैं। अतः इन विशेष ग्रन्थों में सरलता से प्रवेश कराने के लिये ही आचार्यों के ग्रन्थों के आधार से अतिसंक्षेप में प्रमाण अनुमान आगम आदि के लक्षण को समझने के लिए ही यह न्यायसार ग्रंथ लिखा गया है। इसमें पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित प्रमाण आदि के लक्षण का संकलन किया जायेगा और अन्य मतावलम्बियों के क्या-क्या सिद्धांत हैं उनका भी संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायेगा एवं आत्मा, सर्वज्ञ, प्रमाण और तत्त्वों के विषय में किन-किन की क्या-क्या मान्यतायें हैं? उनमें क्या क्या दूषण आते हैं? न्याय की कसौटी से कसी गई शुद्ध वास्तविक व्यवस्था क्या है? इस पर विचार किया जायेगा।

सर्व प्रथम इसमें ग्रंथ का उद्देश्य, लक्षणनिर्देश और परीक्षा का लक्षण बतलाते हुए प्रमाण समीक्षा की जायेगी; जिसमें जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण का लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय और फल बतलाते हुए अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण आदि में दोष दिखलाते हुए प्रमाण की समीक्षा की

जायेगी। अनन्तर दूसरे अधिकार में प्रमेय की समीक्षा करते हुए अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य सिद्धांत, तत्त्व, आत्मा, ज्ञान, संसार, मोक्ष और इन दोनों के कारणों पर विचार करते हुए निर्दोष सर्वज्ञ कथित मान्यता को स्पष्ट किया जाएगा। इस ग्रंथ में चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, वेदांती और वैयाकरण के मत की अधिक रूप से समीक्षा की जावेगी। अंत में स्याद्वाद शैली से वस्तु व्यवस्था को समझने का उल्लेख होगा क्योंकि स्याद्वाद शासन ही सार्वभौम शासन है।

जैन सिद्धांत में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य माने हैं एवं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व होते हैं। इन सबको जानने का उपाय 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र के छठे सूत्र से कहा गया है। क्योंकि प्रमाण और नयों के द्वारा ही जीवादि तत्त्वों का यथार्थज्ञान होता है। किसी का भी वर्णन करने के लिए तीन बातों की प्रमुख आवश्यकता रहती है। उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा।

उद्देश—विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः। [न्यायदीपिका पृ. ५]

कहने योग्य वस्तु के केवल नाम मात्र कथन को उद्देश कहते हैं।

लक्षण निर्देश—व्यतिकीर्णवस्तुध्यावृत्तिहेतुर्लक्षणं। [न्या. पृ. ६]

मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

श्री अकलंक देव ने भी ऐसा ही कहा है—

“परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं” [तत्त्वार्थवा. २-८]

परस्पर मिली हुई वस्तुओं में किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

परीक्षा—विरुद्धनानायुक्ति-प्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं प्रवर्तते। [न्या. पृ. ८]

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुये विचार को परीक्षा कहते हैं। वह परीक्षा “यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिये और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए” इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

इन तीनों में से अब यहां लक्षण के भेद कहते हैं

लक्षण के दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत।

आत्मभूत—यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतं यथाग्नेरौष्ण्यं। [न्या. पृ. ६]

जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्मभूत कहते हैं, जैसे—अग्नि की उष्णता। यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जलादि से पृथक् कर देती है। इसलिये यह उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है।

अनात्मभूत—तद्विपरीतमनात्मभूतं यथा दण्डः पुरुषस्य । [न्या०पृ०६]

जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं जैसे दण्डी पुरुष का लक्षण दण्ड । 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष का स्वरूप न होता हुआ भी पुरुष को भिन्न पदार्थों से पृथक् कर देता है । इसलिये यह दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है ।

लक्षणाभास को बताते हैं ।

सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं ।

उसके तीन भेद हैं—अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभवी ।

अव्याप्त—लक्ष्यैकदेशवृत्यव्याप्तम् । यथा गोः शावलेयत्वं । [न्या०पृ०७]

जो लक्ष्य के एक देश में रहता है उसे अव्याप्त दोष कहते हैं । जैसे गो का लक्षण शावलेयत्व । शावलेयत्व—चितकबरा धर्म सभी गायों में नहीं पाया जाता है कुछ ही गायों में रहता है अतः अव्याप्त है ।

अतिव्याप्त—लक्ष्यालक्ष्यवृत्यतिव्याप्तं, यथा तस्यैस्व पशुत्वं । [न्या० पृ०७]

जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहता है उसे अतिव्याप्त कहते हैं जैसे गो का लक्षण पशुपना । यह पशुपना गाय के सिवाय अन्य अश्व आदि में भी पाया है अतः अतिव्याप्त है ।

असंभवी—बाधितलक्ष्यवृत्यसंभवि, यथा नरस्य विषाणित्वं । [न्या० पृ०७]

जिसका लक्ष्य में रहना असंभव हो वह असंभव है जैसे मनुष्य का लक्षण सींग । सींग किसी भी मनुष्य में नहीं पाया जाता है अतः यह असंभविलक्षणाभास है ।

लक्ष्य किसे कहते हैं

जिसका लक्षण किया जाता है वह लक्ष्य कहलाता है । जैसे जीव का लक्षण उपयोग है ऐसा कहने पर जीव तो लक्ष्य है और उसका लक्षण उपयोग है जोकि अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभवी दोषों से रहित है ।

'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र से प्रमाण का उद्देश हो चुका है अब प्रमाण का लक्षण निर्देश करते हैं एवं प्रमाण की परीक्षा यथा अवसर होवेगी ।



प्रमाण-समीक्षा

प्रमाण का लक्षण

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं । अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति । [न्या० पृ० ६]

सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । यहां जो सम्यक्पद है वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के निराकरण के लिए है क्योंकि ये तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं ।

संशय—विरुद्धानेककोटिस्पर्श ज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । [न्या० पृ० ६]

विरुद्ध अनेक पक्षों के स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं जैसे—यह ठूँठ है या पुरुष ।

प्रायः संध्या आदि के समय मंद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्य रूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और स्थाणु का टेढ़ापन आदि एवं पुरुष के शिर पैर आदि विशेष धर्मों के स्पष्ट नहीं होने से नाना कोटियों का अवगाहन करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है ।

विपरीत—विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानं । [न्या० पृ० ६]

विपरीत एक पक्ष के निर्णय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं जैसे 'सीप में यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना । इस ज्ञान में सदृशता आदि कारणों से सीप से विपरीत चाँदी का सीप में निर्णय होता है अतः यह विपरीत ज्ञान है ।

अनध्यवसाय—किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम् । [न्या० पृ० ६]

'क्या है' इस प्रकार के अनिश्चय रूप सामान्य ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं । जैसे—मार्ग में चलते हुये पथिक के पैर में तृण कण्टक आदि के स्पर्श हो जाने पर ऐसा ज्ञान होना कि 'यह क्या है' । यह ज्ञान नाना पक्षों का अवगाहन न करने से संशय नहीं है एवं विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से विपरीत भी नहीं है । अतः संशय विपर्यय से रहित होने से यह तीसरा ही अनध्यवसाय नामक मिथ्या ज्ञान है । ये तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान में नहीं पाये जाते हैं ।

श्री माणिक्यनंदि आचार्य प्रमाण का लक्षण करते हैं—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं ॥१॥ [परीक्षामुख प्र०प०]

अपना और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है ।

इस प्रमाण के लक्षण में जो 'ज्ञान' पद है वह अज्ञान रूप सन्निकर्ष, कारक साकल्य और इन्द्रिय प्रवृत्ति की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए है ।

जो 'व्यवसाय' पद है वह बौद्धाभिमत निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का खंडन करने के लिए है।
 'अर्थ' पद विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत तथा शून्यकांतवाद को प्रमाण नहीं मानने के लिए है।
 'अपूर्व' विशेषण गृहीतग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण का निराकरण करने के लिए है।
 एवं 'स्व' विशेषण अस्वसंविदित ज्ञान की प्रमाणता के निषेध के लिए है।

ज्ञान ही प्रमाण क्यों है ?

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२॥ [प. मु. प्र. प.]

जो हित-सुख की प्राप्ति और अहित-दुःख को दूर करने में समर्थ होता है वह प्रमाण है और वह ज्ञान ही हो सकता है अन्य नहीं।

प्रमाण के भेद और लक्षण

तद्द्वेधा ॥१॥ प्रत्यक्षेतर भेदात् ॥२॥ विशदं प्रत्यक्षं ॥३॥ [प. मु. द्वि. प.]

उस प्रमाण के दो भेद हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष।

विशद-स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं--सांख्यव्यवहारिक और पारमार्थिक।

सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांख्यव्यवहारिकं ॥५॥ [प. मु. द्वि. प.]

इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले एक देश निर्मल ज्ञान को सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे मति ज्ञान भी कहते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यं ॥११॥ [प. मु. द्वि. प.]

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री की पूर्णता से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके ऐसे इन्द्रियों की सहायता रहित और पूर्णतया विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि आवरण सहित और इन्द्रियजन्य ज्ञान में ही बाधा संभव है अन्यत्र नहीं।

परोक्ष प्रमाण का लक्षण

परोक्षमितरत् ॥१॥ [प. मु. तृ. प.]

प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सभी प्रमाण परोक्ष हैं अर्थात् अविशद ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण के भेद

परोक्ष प्रमाण के प्रत्यक्ष स्मृति आदि आगे-आगे कारण माने गये हैं। इसके पांच भेद हैं--स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

पहले धारणा रूप प्रत्यक्ष हुये पदार्थ का ही स्मरण होता है इसलिए स्मृतिज्ञान में प्रत्यक्ष

निमित्त है प्रत्यभिज्ञान में स्मृति और प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। तर्क ज्ञान में प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान तीनों की आवश्यकता होती है। अनुमान ज्ञान में प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क इन चारों की आवश्यकता रहती है। आगम प्रमाण में संकेत ग्रहण और उसका स्मरण ये दोनों ही कारण होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन पाँचों ही प्रमाणों में दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता होती है इसलिए उन्हें परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृति प्रमाण का लक्षण

संस्कारोद्बोधनिबंधना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥ स देवदत्तो यथा ॥४॥ [प. मु. तृ. प.]

संस्कार-धारणारूप अनुभव की प्रगटता से होने वाले तथा 'तत्'—'वह' इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं । तदेवेदं तत्सादृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥५॥

[प. मु. तृ. प.]

वर्तमान का प्रत्यक्ष और पूर्व दर्शन का स्मरण है जिसमें ऐसे जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके एकत्व, सादृश्य, विलक्षण्य और प्रातियौगिक ये चार भेद हैं। 'यह वही है' इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। 'यह उसके सदृश है' यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। 'यह उससे विलक्षण है' यह 'विलक्षण प्रत्यभिज्ञान है। यह उसका प्रतियोगी है। उन चारों में क्रमशः इस प्रकार प्रतिभास होता है।

प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण

यथा स एवायं देवदत्तः, गोसादृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः, इदमस्माद्दूरं वृक्षोयमित्यादि ॥६॥

[प. मु. तृ. प.]

यह वही देवदत्त है, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह रोझ गौ के समान है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह भैंस उस गौ से विलक्षण है, यह विलक्षण प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह प्रदेश उस प्रदेश से दूर है, यह वही वृक्ष है ये सब प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण हैं।

तर्क प्रमाण का लक्षण

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानभूहः ॥७॥ [प. मु. तृ. प.]

साध्य और साधन का निश्चय और अनिश्चय है कारण जिसमें ऐसे व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति ज्ञान का स्वरूप

इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ॥८॥

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥९॥ [प. मु. तृ. प.]

यह साधन इस साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के नहीं होने पर यह साधन नहीं होता है, यही व्याप्ति है। जैसे अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं होता है।

अनुमान का लक्षण

साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं ॥१०॥ [प. मु. तृ. प.]
साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं ।

साधन का लक्षण

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥११॥ [प. मु. तृ. प.]
जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होवे अर्थात् जो साध्य के बिना नहीं हो सकता है उसे साधन-हेतु कहते हैं ।

अविनाभाव का स्वरूप और भेद

जो जिसके बिना न होवे उसे उसका अविनाभावी कहते हैं । उसके दो भेद हैं—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१२॥ [प. मु. तृ. प.]

साध्य और साधन का एक साथ एक समय में होने का नियम सहभाव नियम अविनाभाव कहलाता है । और काल के भेद से साध्य और साधन का क्रम से होने का नियम क्रमभाव नियम कहलाता है ।

सहभाव का लक्षण व उदाहरण

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१३॥ [प. मु. तृ. प.]

सदा साथ रहने वालों में तथा व्याप्य और व्यापक में जो अविनाभाव संबंध होता है उसे सहभाव नियम नामक अविनाभाव संबंध कहते हैं । रूप-रस सदा एक साथ रहते हैं । वृक्षत्व व्यापक और शिशपात्व व्याप्य है । जो तत् अतत् ऐसे दोनों जगह रहता है वह व्यापक है और जो अल्पदेश में रहता वह व्याप्य कहलाता है ।

क्रमभाव का लक्षण

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१४॥ [प. मु. तृ. प.]

पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में जो अविनाभाव संबंध होता है, उसे क्रमभाव नियम अविनाभाव संबंध कहते हैं । कृत्तिका का उदय अंतर्मुहूर्त पहले होता है और रोहिणी का उदय पीछे होता है । इसलिए इन दोनों में क्रमभाव माना गया है । इसी प्रकार अग्नि के बाद में धूम होता है, इसलिए अग्नि और धूम में भी कार्यकारणरूप क्रमभाव माना जाता है

व्याप्ति ज्ञान का निर्णय कैसे होता है ?

तर्कत् तन्निर्णयः ॥१५॥ [प. मु. तृ. प.]

व्याप्ति-अविनाभाव का निर्णय तर्क प्रमाण से होता है । जैनाचार्यों के सिवाय अन्य किसी ने भी तर्क प्रमाण को नहीं माना है अतः सबके द्वारा मान्य प्रमाण की संख्या असत्य ठहरती है ।

साध्य का स्वरूप

इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यं ॥१६॥ [प. मु. तृ. प.]

जो वादी को इष्ट-अभिप्रेत है--प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित है और असिद्ध है उसे साध्य कहते हैं। यहां असिद्ध विशेषण का प्रयोजन यह है कि कोई भी सिद्ध अर्थ को साध्य की कोटि में नहीं रखेगा अतएव असिद्ध को ही साध्य की कोटि में रखकर सिद्ध किया जाता है।

धर्म और धर्मों के समुदाय का कथन करना 'पक्ष' कहलाता है। धर्मों को भी पक्ष कहते हैं।

प्रसिद्धो धर्मो ॥२३॥ [प. मु. तृ. प.]

वह धर्मो-पक्ष प्रसिद्ध ही होता है। अवस्तु स्वरूप या कल्पित नहीं होता है।

अनुमान के दो अंग होते हैं

एतद्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥३३॥ [प. मु. तृ. प.]

पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयव हैं, उदाहरण नहीं है।

जैनाचार्य अनुमान के मुख्य रूप से दो ही अवयव मानते हैं। सांख्य-पक्ष हेतु और दृष्टान्त, मीमांसक-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण व उपनय तथा नैयायिक-प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन ऐसे ये लोग क्रम से ३, ४ या ५ अवयव मानते हैं। जिनका जैनाचार्यों ने खण्डन किया है। बौद्ध एक 'हेतु' को ही अनुमान का अवयव मानता है।

कदाचित् जैनाचार्य भी पांच अवयव मान लेते हैं

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्रयोपगमे शास्त्रे एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥४२॥ [प. मु. तृ. प.]

बाल बुद्धि वाले-अल्पज्ञ जनों को समझाने के लिए उदाहरण उपनय और निगमन की स्वीकारता शास्त्र में ही है, वाद काल में नहीं। क्योंकि वाद करने का अधिकार विद्वानों को ही होता है और वे पहले से ही व्युत्पन्न रहते हैं। इसलिए उनको उदाहरण आदि का प्रयोग उपयोगी नहीं होता।

उदाहरण के भेद

उदाहरण के दो भेद हैं।

दृष्टान्तो द्वेषा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥४३॥ [प. मु. तृ. प.]

दृष्टान्त के दो भेद हैं—अन्वय और व्यतिरेक।

अन्वय दृष्टान्त का स्वरूप

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ॥४४॥ [प. मु. तृ. प.]

जिसमें साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखाई जाती है उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं। जैसे--जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है, इस प्रकार साधन का सद्भाव दिखाकर साध्य का सद्भाव दिखाना अन्वयव्याप्ति है।

व्यतिरेक दृष्टान्त का स्वरूप

साध्यनाशे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्तः ॥४१॥ [प. नू. तू. प.]

जिसमें साध्य का अभाव दिखाकर साधन का अभाव दिखाया जाता है वह व्यतिरेक दृष्टान्त है। जैसे-जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता है, इस प्रकार से साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाना व्यतिरेक व्याप्ति है।

उपनय का लक्षण

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥४६॥ [प. नू. तू. प.]

पक्ष में साधन के दुहराने को उपनय कहते हैं।

निगमन का स्वरूप

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥४७॥ [प. नू. तू. प.]

प्रतिज्ञा के दुहराने को निगमन कहते हैं। जैसे धूम वाला होने से वह अग्नि वाला है।

अनुमान के भेद

तदनुमानं द्वेषा ॥ ४८ ॥ स्वार्थपरार्थभेदात् ॥४९॥ [प. नू. तू. प.]

अनुमान के दो भेद हैं। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थमुक्तं लक्षणं ॥५०॥ परार्थतु तदर्थपरामशिवचनाच्चरतं ॥५१॥ तद्वचनमपि लक्षणे-
त्वात् ॥५२॥ [प. नू. तू. प.]

‘साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं’ इस सूत्र से कहा गया अनुमान का लक्षण ही स्वार्थानुमान का लक्षण है।

स्वार्थानुमान के विषय भूत, साध्य और साधन को कहने वाले वचनों से उत्पन्न हुए ज्ञान को परार्थानुमान कहते हैं। एवं परार्थानुमान के कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी परार्थानुमान कहते हैं।

हेतु के भेद

स हेतुर्वैधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५३॥ [प. नू. तू. प.]

उपलब्धिविधिविप्रतिषेधयोरनुपलब्धिरत्र ॥५४॥ [प. नू. तू. प.]

हेतु के दो भेद हैं उपलब्धि रूप हेतु और अनुपलब्धि रूप हेतु। उपलब्धि रूप हेतु विधि और प्रतिषेध के साधक हैं एवं अनुपलब्धि रूप हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनों के साधक हैं। अर्थात् उपलब्धि के दो भेद हैं अविरोधोपलब्धि और विरोधोपलब्धि। ऐसे ही अनुपलब्धि के भी दो भेद हैं-अविरोधानुपलब्धि और विरोधानुपलब्धि।

अविरुद्धोपलब्धि के भेद

अविरुद्धोपलब्धि के विधि में छह भेद हैं। अविरुद्धव्याप्योपलब्धि, अविरुद्धकार्योपलब्धि, अविरुद्धकारणोपलब्धि, अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि, अविरुद्धसहचरोपलब्धि ।

विरुद्धोपलब्धि के भेद

विरुद्धोपलब्धि के प्रतिषेध को सिद्ध करने में छह भेद हैं। विरुद्धव्याप्योपलब्धि, विरुद्धकार्योपलब्धि, विरुद्धकारणोपलब्धि, विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और विरुद्धसहचरोपलब्धि ।

अविरुद्धानुपलब्धि के भेद

अविरुद्धानुपलब्धि के प्रतिषेध में सात भेद हैं। अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि, अविरुद्धकार्यानुपलब्धि, अविरुद्धकारणानुपलब्धि, अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि और अविरुद्धसहचरानुपलब्धि ।

विरुद्धानुपलब्धि के भेद

विरुद्धानुपलब्धि के विधि में तीन भेद हैं—विरुद्धकार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि, विरुद्धस्वभावानुपलब्धि । यहाँ हेतु के ये बावीस भेद बताये हैं प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण परीक्षा-मुख ग्रन्थ से देख लेना चाहिए ।

इन बाईस हेतुओं में से सबसे प्रथम अविरुद्ध व्याप्योपलब्धि का उदाहरण देते हैं—

“परिणामी शब्दः कृतकत्वात् य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः कृतकश्चायं तस्मात्परिणामीति यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी ॥६१॥

[प. मु. तृ. प.]

अर्थ—शब्द परिणामी होता है क्योंकि वह किया हुआ है। जो-जो किया हुआ होता है वह-वह परिणामी होता है जैसे घड़ा। घड़े की तरह शब्द भी किया हुआ है अतः वह भी परिणामी होता है। जो पदार्थ परिणामी नहीं होता वह पदार्थ किया भी नहीं जाता, जैसे वन्ध्या स्त्री का पुत्र। उसी तरह यह शब्द कृतक होता है, इसी कारण परिणामी होता है। यहां परिणामित्व साध्य से अविरुद्ध व्याप्य कृतकत्व की उपलब्धि है।

‘परिणामी शब्दः’ यह प्रतिज्ञा है ‘कृतकत्वात्’ यह हेतु है। ‘यथाघटः’ यह अन्वय दृष्टान्त है ‘यथा वन्ध्यास्तनन्धयः’ यह व्यतिरेक दृष्टान्त है, ‘कृतकश्चायं’ यह उपनय है। ‘तस्मात् परिणामीति’ यह निगमन है। इस प्रकार से यहां पहले बतलाये गये जो अनुमान के पाँच अवयव माने गये हैं वे पाँचों अवयव दिखलाये गए हैं। यहां पर ‘कृतकत्वात्’ यह हेतु शब्द को परिणामी सिद्ध करता है वह हेतु परिणामीपने से व्याप्त है अतः यह हेतु ‘अविरुद्धव्याप्योपलब्धि’ नाम से कहा जाता है। ऐसे ही सभी हेतुओं का लक्षण अन्यत्र ग्रन्थों से समझना चाहिए।

अन्य हेतु भी इन्हीं बाईस हेतुओं में शामिल है ।

परम्परया संभवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयं ॥८६॥ [प. मु. तृ. प.]

गुरु परम्परा से और भी जो हेतु संभव हो सकते हों उनका पूर्वोक्त साधनों में ही अंतर्भाव करना चाहिये ।

व्युत्पन्न जनों की अपेक्षा अनुमान के अवयवों के प्रयोग का नियम

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ॥८७॥ [प. मु. तृ. प.]

व्युत्पन्न पुरुषों के लिए तथोपपत्ति या अन्यथानुपपत्ति नियम से ही प्रयोग करना चाहिये ।

साध्य के सद्भाव में साधन का होना 'तथोपपत्ति' है एवं साध्य के अभाव में साधन का न होना 'अन्यथानुपपत्ति' कहलाती है ।

व्युत्पन्न प्रयोग की उदाहरण द्वारा पुष्टि

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्ते धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥८८॥ [प. मु. तृ. प.]

यह प्रदेश अग्नि वाला है क्योंकि अग्नि के सद्भाव में ही यह धूमवाला हो सकता है, यह तथोपपत्ति का उदाहरण है । अथवा अग्नि के अभाव में यह धूमवाला हो ही नहीं सकता, इसलिए इसमें अवश्य अग्नि है, यह 'अन्यथानुपपत्ति' का उदाहरण है । इस प्रकार 'तथोपपत्ति' या 'अन्यथानुपपत्ति' का प्रयोग करना चाहिए । इस दृष्टांत से यह निश्चय किया जाता है कि विद्वानों के लिए उदाहरण वगैरह के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है ।

यहां तक अनुमान के अंगभूत साध्य और हेतुओं का वर्णन किया है ।

आगम का स्वरूप

आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः ॥८९॥ [प. मु. तृ. प.]

आप्त वचन तथा अंगुलि संज्ञा आदि से होने वाले अर्थज्ञान को आगम प्रमाण कहते हैं ।

शब्द से वास्तविक अर्थबोध होने का कारण

सहजयोग्यता संकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥९०॥ [प. मु. तृ. प.]

अर्थों में वाच्यरूप और शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमें संकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान में हेतु हो जाते हैं ।

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥९१॥ [प. मु. तृ. प.]

जैसे सुमेरु पर्वत आदिक हैं, अर्थात् जैसे मेरु शब्द के सुनने मात्र से ही जंबूद्वीप के मध्यस्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है । उसी प्रकार सर्वत्र शब्द से अर्थ का ज्ञान हो जाता है ।

इस प्रकार से यहाँ तक परीक्षा मुख सूत्र के आधार से प्रमाण का लक्षण उसके दो भेद, प्रत्यक्ष के दो भेद एवं परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पांच भेदों का लक्षण किया गया है ।

न्यायदीपिका ग्रन्थ में कुछ विशेषता है उसे बताते हैं ।

प्रमाण के भेद लक्षण और विशेषतायें

प्रमाणं द्विविधं-प्रत्यक्षं परोक्षं चेति तत्र विशदप्रतिभासं प्रत्यक्षं । तत्प्रत्यक्षं द्विविधं-सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति । तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं...तच्चतुर्विधं-अवग्रहः ईहा अवायः धारणा चेति । [न्या० पृ० ३१]

प्रमाण के दो भी भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष ।

उसमें विशद-स्पष्ट प्रतिभास को प्रत्यक्ष कहते हैं ।

उस प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक । एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं । उसके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा । यह ज्ञान पांच इंद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है अतः चार को छह से गुणा करने से $4 \times 6 = 24$ भेद हुये हैं इस ज्ञान के विषयभूत पदार्थ बहु, बहुविध आदि के भेद से बारह प्रकार के हैं अतः इन 24 को 12 से गुणा करने पर $24 \times 12 = 288$ भेद हुये ।

अवग्रह के दो भेद होते हैं व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह । व्यञ्जनावग्रह में केवल अवग्रह ही होता है ईहा आदि भेद नहीं होते हैं एवं यह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः एक व्यञ्जनावग्रह को 4 इंद्रिय से गुणा करके 12 भेदों से गुणित कीजिये $1 \times 4 = 4$, $4 \times 12 = 48$, पुनः उपयुक्त 288 में इस संख्या को मिला देने से इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के 336 भेद होते हैं । यथा $288 + 48 = 336$ ।

इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को अमुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं क्योंकि यह उपचार से सिद्ध है । इसी का नाम मतिज्ञान है वास्तव में यह ज्ञान परोक्ष है जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ में श्री उमास्वामि आचार्य ने स्पष्ट किया है “आद्ये परोक्षं” ॥११॥ आदि के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं क्योंकि ये इंद्रिय मन आदि की अपेक्षा रखते हैं अतः परोक्ष हैं । यहां न्याय ग्रन्थों में मतिज्ञान को प्रत्यक्ष कहने का मतलब यह है कि यह ज्ञान इंद्रिय और मन इन दो निमित्तक होते हुये भी लोक के सांव्यवहार में ‘प्रत्यक्ष’ इस प्रकार से प्रसिद्ध होने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है । वास्तव में, यह मतिज्ञान परोक्ष ही है । श्रुतज्ञान को तो परोक्ष प्रमाण में ‘आगम’ नाम से कहा ही है ।

सर्वतो विशदं पारमार्थिकं प्रत्यक्षं । मुख्यप्रत्यक्षं इति यावत् । तद्विविधं-विकलं सकलं च । तत्र कतिपयविषयं विकलं तदपि द्विविधिम् अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च । [न्या० पृ० ३४]

पूर्णतया विशदज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं । इसी का नाम मुख्य प्रत्यक्ष है । इसके दो भेद हैं—विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष । उसमें कतिपय विषय को ग्रहण करने वाला विकल प्रत्यक्ष है उसके भी दो भेद हैं—अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ।

सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलं । [न्या० पृ० ३७]

संपूर्णद्रव्य और उनकी संपूर्ण पर्यायों को विषय करने वाला सकल प्रत्यक्ष है । यह धातिकर्म के नाश से प्रगट हुआ केवलज्ञान है । इस प्रकार से अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ही पूर्णतया विशद होने से पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं । इन ज्ञानों की पूर्णतया विशदता आत्ममात्र की अपेक्षा रखने वाली है । अर्थात् ये तीनों ज्ञान आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं अतः मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं ।

नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वं, अवधि मनःपर्ययोस्तु न युक्तं, विकलत्वात्, इति चेत् न साकल्य-
वैकल्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात् । तथा हि सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवलं सकलं । अवधिमनःपर्ययो तु
कतिपयविषयत्वाद् विकलो । नैताद्यता तयोः पारमार्थिकत्वच्युतिः । केवलवृत्तयोरपि वैशद्यं स्वविषये
साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव । [न्या० पृ० ३७]

शंका—केवलज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक है, किन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि सकलपना और विकलपना यहां विषय की अपेक्षा से है, स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है । इसका स्पष्टीकरण—चूंकि केवलज्ञान समस्त द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला है, इसलिये वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है । परन्तु अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान कुछ पदार्थों को विषय करते हैं, इसलिये वे विकल कहे जाते हैं । लेकिन इतने मात्र से ही इनमें पारमार्थिकता की हानि नहीं होती है, क्योंकि पारमार्थिकता का लक्षण सकल पदार्थों को विषय करना नहीं है किन्तु पूर्ण निर्मलता है वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञान की तरह अवधि मनःपर्यय में भी अपने विषय में विद्यमान है, इसलिये ये दोनों भी पारमार्थिक ही हैं एवं ये दोनों भी केवलज्ञान की तरह आत्ममात्र की अपेक्षा रखकर ही उत्पन्न होते हैं अतः ये तीनों ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं ।

शंका—अक्ष नाम चक्षु आदि इंद्रियों का है उन इंद्रियों की सहायता लेकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है अतः मति श्रुतज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहना चाहिये अवधि आदि तीनों को नहीं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है । आत्ममात्र की अपेक्षा एवं इंद्रियों से निरपेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष हैं क्योंकि प्रत्यक्षता में कारण स्पष्टता-निर्मलता ही है, इंद्रिय जन्यता नहीं है । दूसरी बात यह है कि हम यहां अक्ष का अर्थ इंद्रिय न करके आत्मा करते हैं देखिये ! “अक्षणोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा” अर्थात् जो व्याप्त करे-जाने, उसे अक्ष कहते हैं और वह अक्ष-आत्मा ही है । इसलिये आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहते हैं । अतएव मतिज्ञान इंद्रिय की अपेक्षा रखने से परोक्ष ही है । कथंचित्-उपचार से उसे न्याय भाषा में सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है, यह बात स्पष्ट है ।

इसी प्रकार से परोक्ष प्रमाण का लक्षण और उसके भेद भी परोक्षामुख के अनुसार ही किये गये हैं।

इसमें भी हेतु के लक्षण को यहां दिखाते हैं

निश्चित साध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनं । यस्य साध्याभावासांभवनियमरूपा व्याप्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तार्किक्येन प्रमाणेन निर्णीता तात्साधनमित्यर्थः । तदुक्तं कुमारनंदिभट्टारकः—“अन्यथानुपपत्त्यंकलक्षणं लिगमंगचते ।” [न्या० पृ० ६६]

जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविना भाव) निश्चित है उसे हेतु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस की साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामों वाली साध्यानुपपत्ति—साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना, इस रूप से तर्क प्रमाण के द्वारा निर्णीत है, वह हेतु है। श्री कुमारनंदि भट्टारक ने भी कहा है—“अन्यथानुपपत्ति मात्र” जिसका लक्षण है उसे लिग-हेतु कहा गया है।

साध्य का लक्षण

शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यं [न्या० पृ० ६६]

जो शक्य अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है उसे साध्य कहते हैं। यहां ‘शक्य’ शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबोधित को लेना, ‘अभिप्रेत’ से इष्ट को समझना एवं ‘अप्रसिद्ध’ से असिद्ध को लेना चाहिये। शब्दों में किंचित् अंतर होते हुये भी ये सभी लक्षण पूर्वोक्त सूत्रों के अनुसार ही हैं।

उपसंहार—यहां तक जैन सिद्धांत के अनुसार प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के दो भेद, उनके भेद-प्रभेद बतलाये गये हैं। प्रमाण के दो भेदों में प्रत्यक्ष और परोक्ष हैं एवं प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। सांख्यव्यवहारिक एवं पारमार्थिक। सांख्यव्यवहारिक-मतिज्ञान के अवग्रह ईहा अवाय धारणा से चार भेद हैं पुनः इंद्रिय, मन एवं बहु आदि विषयों से गुणा करने से ३३६ भेद हो जाते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—विकल, सकल। विकल, प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं अवधि, मनःपर्यय। सकल प्रत्यक्ष से एक केवल-ज्ञान ही लिया जाता है। परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य और प्रातियौगिक के भेद से चार भेद हैं। एवं अनुमान के मुख्य दो अवयव हैं प्रतिज्ञा और हेतु। हेतु के भी उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो भेद हैं। उपलब्धि के अविरुद्धोपलब्धि, विरुद्धोपलब्धि एवं अनुपलब्धि के अविरुद्धानुपलब्धि, विरुद्धानुपलब्धि ऐसे भेद होते हैं। अविरुद्धोपलब्धि के ६ भेद, विरुद्धोपलब्धि के ६ भेद, अविरुद्धानुपलब्धि के ७ भेद एवं विरुद्धानुपलब्धि के ३ भेद ऐसे हेतु के २२ भेद माने गये हैं।

इस प्रकार से सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहकर उसके पांच भेदों में से मतिज्ञान को सांख्यव्यवहारिक

प्रत्यक्ष, श्रुतज्ञान को 'आगम' शब्द से परोक्ष अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा है। यहां तक प्रमाण का विवेचन जैन सिद्धांतानुसार हुआ है। 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र में नयों के द्वारा भी पदार्थों का ज्ञान होता है अतः संक्षेप से यहाँ नय का लक्षण और उसके भेद बताते हैं।

नय का लक्षण

प्रमाणगृहीतार्थकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेषः नयः । [न्या० पृ० १२५]

प्रमाण से जाने हुये पदार्थ के एक देश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं।

उस नय के द्रव्याधिक और पर्यायाधिक ऐसे दो भेद हैं। अन्यत्र नयों के सात भेद भी माने गये हैं यथा—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध, और एवंभूत।

इन नयों का विस्तृत विवेचन अन्य 'नयचक्र' आदि ग्रन्थों से समझना चाहिये। यहां इतना ही पर्याप्त है कि ये सभी नय वस्तु के एक-एक अंश को कहने वाले हैं एवं परस्पर में सापेक्ष हैं, यदि ये नय परस्पर में निरपेक्ष हो जाते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं। जैसे—द्रव्याधिक नय का विषय परम द्रव्य सत्ता-महा सामान्य है उसकी अपेक्षा से सभी चेतन-अचेतन वस्तुयें सत् रूप होने से एक रूप हैं इसी नय को लेकर ब्रह्म वादियों ने "एक अद्वितीय परम ब्रह्म तत्त्व" मान लिया है। किन्तु ऐसी एकांत मान्यता गलत है चेतन-अचेतन कथंचित्-अवांतर सत्ता से भिन्न-भिन्न हैं। वैसे ही ऋजुसूत्र परमपर्यायाधिक नय है, वह भूत, भविष्यत् के स्पर्श से रहित शुद्ध केवल वर्तमान कालीन अर्थपर्याय रूप वस्तु को विषय करता है। उसका एकांत लेकर बौद्धों ने प्रत्येक वस्तु को सर्वथा एक क्षणवर्ती नश्वर ही सिद्ध कर दिया है अतः उसकी भी एकांत मान्यता सर्वथा गलत है। इसलिये नयों की परस्पर सापेक्षता ही सम्यक् है। जो नय परस्पर निरपेक्ष एकांत को ग्रहण कर लेते हैं वे दुर्नय अथवा नयाभास कहलाते हैं।

प्रमाण की सच्चाई का निर्णय कैसे होता है ?

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥१३॥ [परीक्षा मु० प्र० प०]

उस प्रमाण की प्रमाणता का निर्णय दो प्रकार से होता है। अभ्यास दशा में अन्य पदार्थ की सहायता बिना अपने आप, और अनभ्यास दशा में अन्य कारणों की सहायता से।

जैसे—जहां निरंतर जाया आया करते हैं, वहां के नदी और तालाब आदि स्थानों के परिचय को अभ्यास दशा कहते हैं। इस स्थान में ज्ञान की सच्चाई का निर्णय स्वतः हो जाता है। और जहां कभी गये आये नहीं, वहाँ के नदी, तालाब आदि स्थानों के अपरिचय को अनभ्यासदशा कहते हैं, ऐसे स्थानों में दूसरे कारणों से ही प्रमाणता का निर्णय होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रमाणता की उत्पत्ति तो सर्वत्र पर से ही होती है, किन्तु प्रमाणता का निश्चय परिचित विषय में स्वतः और अपरिचित विषय में पर से होता है।

प्रमाण का विषय

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥ [प. मु. च. प.]

सामान्य और विशेष स्वरूप, अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप वस्तु प्रमाण का विषय होती है। द्रव्य के बिना पर्याय एव पर्याय के बिना द्रव्य किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होता है किंतु द्रव्य और पर्याय इन उभय रूप पदार्थ ही ज्ञान का विषय होता है। एक-एक को प्रमाण का विषय मानने में अनेकों दोष आ जाते हैं।

वस्तु अनेकान्तात्मक ही है

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोप-
पत्तेश्च ॥२॥ [प. मु. च. प.]

अन्वय—यह वही है ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं तथा व्यावृत्त—यह वह नहीं है ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं। पदार्थों के कार्य को अर्थ क्रिया कहते हैं जैसे घट की अर्थ क्रिया जला-हरण करना है। अर्थ के पूर्व आकार का विनाश और उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनों सहित स्थिति को परिणाम कहते हैं।

एक ही वस्तु अन्वय ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान का विषय होती है इसलिये वस्तु अनेकान्तात्मक है तथा एक ही वस्तु में पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार की प्राप्ति, इन दोनों से सहित स्थिति रूप लक्षण वाले परिणाम से ही अर्थ क्रिया होती है अतः वस्तु अनेकान्तात्मक ही है। अनुवृत्त ज्ञान का विषय सामान्य है और व्यावृत्त ज्ञान का विषय विशेष है, अतः सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है।

सामान्य के भेद

सामान्यं द्वेषा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥ [प. मु. च. प.]

सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य।

तिर्यक् सामान्य का लक्षण और दृष्टांत

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुंडादिषु गोत्ववत् ॥४॥ [प. मु. च. प.]

समान परिणामन को तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे—खांडी मुण्डी शवली गायों में गोत्व—यह सदृश परिणामन पाया जाता है।

ऊर्ध्वतासामान्य का स्वरूप और दृष्टांत

परापरविषयव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥ [प. मु. च. प.]

पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे स्थास कोश कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी रहती है, यहां यह मिट्टी द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य कही जाती है।

विशेष के भेद

विशेषश्च ॥६॥ पर्याय व्यतिरेकभेदात् ॥७॥ [प. मु. च. प.]

विशेष के भी दो भेद हैं । पर्याय और व्यतिरेक ।

पर्याय विशेष का स्वरूप और उदाहरण

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ [प. मु. च. प.]

एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं, जैसे आत्मा में हर्ष विषाद आदि ।

व्यतिरेक का लक्षण और उदाहरण

अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥ [प. मु. च. प.]

एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं, जैसे गो से महिष में एक भिन्न ही परिणाम है ।

भावार्थ—इन तिर्यक्-ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय-व्यतिरेक रूप विशेष से सहित-उभयात्मक वस्तु को ही ज्ञान जानता है अतः ज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तु को ही विषय करता है यह बात स्पष्ट हुई ।

प्रमाण का फल

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥१॥ [प. मु. पं. प.]

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का अभाव है । तथा परंपरा फल त्याग, ग्रहण और उदासीनता है । प्रमाण के द्वारा पहले अज्ञान का अभाव होता है, पश्चात् त्यागने योग्य वस्तु का त्याग और ग्रहण करने योग्य का ग्रहण एवं इन दोनों से रहित वस्तु में उपेक्षा भाव होता है ।

प्रमाण से प्रमाण का फल भिन्न है या अभिन्न ?

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥२॥ [प. मु. पं. प.]

वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न होता है कथंचित् भिन्न होता है ।

प्रमाण से फल अभिन्न कैसे है ?

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपक्षते चेति प्रतीतेः ॥३॥ [प. पं. प.]

जो जानता है उसी का अज्ञान दूर होता है, वही किसी वस्तु को छोड़ता या ग्रहण करता है, या मध्यस्थ हो जाता है । इसलिये एक जानने वाले व्यक्ति की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाण का फल दोनों अभिन्न हैं । तथा प्रमाण और उसके फल की भेद प्रतीति होती है, इसलिये दोनों भिन्न हैं ।

उपसंहार—यहां तक प्रमाण का लक्षण, उसके भेद-प्रभेद प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल ऐसी चार बातों का स्पष्टतया वर्णन किया गया है । अब आगे अन्यमतावलम्बियों द्वारा मान्य प्रमाण का लक्षण उनके भेद-प्रभेद, विषय और फल में दोष दिखाकर निर्दोष स्याद्वाद सिद्धांत पुष्ट करते हैं ।

प्रमाणाभास का वर्णन

बौद्धाभिमत प्रमाण लक्षण का विचार

‘अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं’ [प्रमाणवार्तिक-२-१]

जो ज्ञान अविसंवादी है—विसंवाद रहित है वह प्रमाण है ऐसा बौद्धों का कहना है । किंतु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसमें असंभव दोष आता है । अर्थात् बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण माने हैं । न्यायविदु में कहा है “सम्यग्ज्ञान-प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान ।” उनमें प्रत्यक्ष में अविसंवादीपना संभव नहीं है क्योंकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चयक नहीं है अतः संशय आदि रूप समारोप का निराकरण नहीं कर सकता है । तथा अनुमान में भी अविसंवादीपना असंभव है, क्योंकि बौद्धों की मान्यतानुसार वह भी अवास्तविक समान्य को विषय करने वाला है । इस तरह बौद्धों द्वारा मान्य वह प्रमाण का लक्षण असंभव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है ।

भाट्टों के प्रमाण लक्षण की परीक्षा

“अनधिगततथाभूतार्थनिश्चयकं प्रमाणम् ।” [शास्त्र दी पु, १२६]

‘पहले नहीं जाने हुये यथार्थ अर्थ का निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । ऐसी भाट्ट-मीमांसकों की मान्यता है । किंतु उनका यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है । क्योंकि उन्हीं के द्वारा प्रमाण रूप में माने गये धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नहीं हैं । यदि तुम यह कहो कि धारावाहिक ज्ञान अगले-अगले क्षण से सहित अर्थ को विषय करते हैं, इसलिये अपूर्वार्थ विषयक ही हैं । तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि क्षण अत्यंत सूक्ष्म हैं । इन क्षणों का जानना संभव नहीं है । अतः धारावाहिक ज्ञानों में उक्त लक्षण की व्याप्ति निश्चित है ।

प्रभाकर के प्रमाण लक्षण की समीक्षा

“अनुभूतिः प्रमाणं” [बृहती १-१-५]

प्रभाकर मतानुयायी “अनुभूति को प्रमाण” कहते हैं, किंतु उनका भी यह लक्षण युक्ति संगत नहीं है । क्योंकि ‘अनुभूति’ शब्द को भाव साधन करने पर करण रूप प्रमाण में अव्याप्त रहता है एवं अनुभूति शब्द को करण साधन करने पर भाव रूप प्रमाण में अव्याप्ति दोष आता है । चूंकि करण और भाव दोनों को ही उनके यहां प्रमाण माना गया है । जैसा कि ‘शालिकानाथ ने कहा है’—‘यदाभावसाधनं तदा संविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्ममनः सन्निकर्षः’ [प्रकरण प० प्रमाण० वा० पृ० ६४]

जब प्रमाण शब्द को ‘प्रमितिः प्रमाणं’ इस प्रकार भाव साधन किया जाता है उस समय ‘ज्ञान’ ही प्रमाण होता है । और ‘प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं’ जिसके द्वारा जाना जाय वह प्रमाण है ऐसा करण साधन करने पर ‘आत्मा और मन का सन्निकर्ष, प्रमाण होता है । अतः अनुभूति (अनुभव) को प्रमाण का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष स्पष्ट है । इसलिये यह लक्षण भी सुलक्षण नहीं है ।

नैयायिकों के प्रमाण लक्षण की परीक्षा

‘प्रमाकरणं प्रमाणं’ [न्याय मं० प्रमाण पृ० २५]

प्रमा के प्रति जो करण है वह प्रमाण है। ऐसी नैयायिकों की मान्यता है किंतु उनकी यह मान्यता भी प्रमादकृत ही है। क्योंकि उनके द्वारा प्रमाण रूप से माने गये ईश्वर में ही वह लक्षण अव्याप्त है। कारण, ‘महेश्वर’ प्रमाण का आश्रय है करण नहीं है। ईश्वर को प्रमाण मानने का यह कथन हम अपनी ओर से आरोपित नहीं कर रहे हैं किंतु उनके प्रमुख ‘आचार्य उदयन’ ने स्वयं स्वीकार किया है कि—

तन्मे प्रमाणं शिवः’ [न्याय० कु० सु० ४-६]

अर्थात् “वह महेश्वर मेरे प्रमाण हैं” इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये कोई इस प्रकार व्याख्या करते हैं, कि जो प्रमा का साधन हो अथवा प्रमाण का आश्रय हो वह प्रमाण है।

साधनाश्रयोरन्यतरत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणं [सर्वदर्शनसंग्रह-पं० २३५]

किंतु उनका यह व्याख्यान भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि प्रमा के साधन और प्रमा के आश्रय में से किसी एक को प्रमाण मानने पर लक्षण की परस्पर में अव्याप्ति होती है। जब प्रमा के साधन को प्रमाण का लक्षण किया जायेगा तब ‘प्रमा के आश्रय रूप’ प्रमाण लक्ष्य में लक्षण नहीं रहेगा और जब ‘प्रमा के आश्रय को’ प्रमाण का लक्षण माना जायेगा, तब ‘प्रमा के साधन रूप’ प्रमाण लक्ष्य में लक्षण घटित नहीं होगा। तथा प्रमाश्रय और प्रमासाधन दोनों को सभी लक्ष्यों का लक्षण माना जाये तो कहीं भी लक्षण नहीं जायेगा। सन्निकर्ष आदि केवल प्रमा के आश्रय हैं प्रमा के साधन नहीं हैं क्योंकि उसकी प्रमा (ज्ञान) नित्य है। प्रमा का साधन भी हो और प्रमा का आश्रय भी हो ऐसा कोई प्रमाण लक्ष्य नहीं है अतः नैयायिकों का उक्त लक्षण सदोष है।

इस प्रकार से कोई-कोई ज्ञान को अस्वसंविदित—स्व को नहीं जानने वाला कहते हैं। कोई गृहीत अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, कोई निर्विकल्प दर्शन को प्रमाण कहते हैं कोई संशय को, कोई विपरीत को, कोई अनध्यवसाय को ही प्रमाण कह देते हैं किंतु ये प्रमाण नहीं हैं प्रत्युत प्रमाणाभास ही हैं।

जैनाचार्यों द्वारा मान्य ‘सम्यग्ज्ञान’ ही प्रमाण है वही हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ है अन्य नहीं हैं।

अन्य मतावलंबियों द्वारा मान्य प्रमाण के भेदों का विचार

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कारणात्सौगताः पुनः।

अनुमानं च तच्चैव सांख्याः शाब्दं च ते अपि ॥१॥

न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केन च।

अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥२॥

अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।

संभवैतिहायुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥३॥

अर्थ—चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं। सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक भी इन्हीं दो प्रमाणों को मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ऐसे तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक इन्हीं तीन में उपमान को मिलाकर चार मानते हैं। प्रभाकर इन्हीं चार में अर्थापत्ति मिलाकर पांच प्रमाण मानते हैं। भाट्ट मीमांसक और वेदांती प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम, अर्थापत्ति और अभाव ऐसे छः प्रमाण मानते हैं। पौराणिक इन्हीं छः प्रमाणों में संभव और ऐतिहा मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं।

इनमें से चार्वाक मती एक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही 'परलोकादि का निषेध और पर में बुद्धि है' इत्यादि का विधान भी नहीं कर सकता है क्योंकि अनुमान प्रमाण को माने बिना परलोकादि का निषेध असंभव है।

बौद्ध सांख्य आदि भी अनेकों प्रमाण मानकर भी तर्क प्रमाण नहीं मानते हैं अतः इन सभी की मान्य प्रमाण संख्या गलत है क्योंकि तर्क प्रमाण के बिना व्याप्ति का निर्णय न होने से अनुमान का भी अवतार नहीं हो सकता है।

अतएव जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण के दो भेद ही सुघटित हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप इन दो प्रमाणों में सभी प्रमाण शामिल हो जाते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद परोक्ष के अंतर्गत होने से सभी व्यवस्था व्यवस्थित हो जाती है।

इस प्रकार से अन्य मतों द्वारा मान्य प्रमाण के भेदों का निराकरण कर दिया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को विशेष न्याय ग्रन्थ देखने चाहिये।

इन प्रमाण के भेदों का लक्षण भी बाधित ही हैं उस पर अब विचार करते हैं।

बौद्धों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण का खंडन

“कल्पनापोडमभ्रान्तं प्रत्यक्ष” [न्याय विन्दु पृ० ११]

बौद्ध 'कल्पनापोड—निर्विकल्प और भ्रान्ति रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं।

उनका कहना है कि 'कल्पनापोड' पद से सविकल्प ज्ञान का और 'अभ्रान्त' पद से मिथ्याज्ञानों का निराकरण होता है। क्योंकि उनके यहां जो समीचीन निर्विकल्प ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है।

किंतु इस पर जैनाचार्यों का यह कहना है कि निर्विकल्प ज्ञान संशय, विपर्यय अनध्यवसाय रूप समारोप का निराकरण करने वाला नहीं है, और किसी भी वस्तु का निश्चय कराने वाला भी नहीं है अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

बौद्ध—निर्विकल्प ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है और पुनः उसी अर्थ को प्रकाशित करता है अतः प्रमाण है क्योंकि स्वलक्षण जन्य है वास्तविक है। किंतु सविकल्प ज्ञान ऐसा नहीं है।

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥ [प. मु. द्वि-प.]

अतज्जग्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥ [प. मु. द्वि. प.]

जैन—पदार्थ और प्रकाश ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं क्योंकि वे विषय हैं जैसे अंधकार । ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न न होकर भी उस पदार्थ को प्रकाशित कर देता है जैसे कि दीपक अर्थ—घट, पट आदि से उत्पन्न न होकर भी उनको प्रकाशित कर देता है ।

बौद्धों की यह मान्यता है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होकर उसके आकार होकर के ही उस अर्थ को जानता है अन्यथा उस-उस पदार्थ की व्यवस्था कैसे करेगा ?

किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान न तो अर्थ से उत्पन्न ही होता है न अर्थ के आकार का ही होता है फिर भी उसे जान लेता है क्योंकि पदार्थ के साथ ज्ञान का कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है, कि जहां पर पदार्थ हों, वही पर ज्ञान होवे और पदार्थ के अभाव में ज्ञान का अभाव रहे । अतः ज्ञान तो आत्मा का गुण है—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥६॥ [प. मु द्वि. प.]

अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप—योग्यता से ही ज्ञान 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार से पदार्थों की भिन्न-भिन्न व्यवस्था कर देता है । अतः योग्यता ही वस्तु की व्यवस्था करने में कारण है । जिस ज्ञान में जिस अर्थ को ग्रहण करने की योग्यता है वह ज्ञान उस ही अर्थ को विषय करता है अन्य को नहीं । ज्ञान अर्थ के आकार होकर ही अर्थ को जानता है यह भी गलत है क्योंकि दीपक घट पट के आकार को न धर कर भी उन्हें प्रकाशित कर देता है । अतः बौद्धों द्वारा मान्य तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसाय का खंडन हो जाता है ।

बौद्धों ने सविकल्प ज्ञान को अवास्तविक माना है क्योंकि वह परमार्थभूत सामान्य को विषय करता है । आचार्यों का कहना है कि यह भी गलत है चूंकि प्रमाण से बाधित न होने के कारण सविकल्प ज्ञान का विषय परमार्थ ही है । किंतु बौद्धों द्वारा मान्य वास्तविक स्वलक्षण-एक क्षणवर्ती पर्यायभूत वस्तु दिखती ही नहीं है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण निविकल्प नहीं है सविकल्प ही है ।

योगाभिमत सन्निकर्ष का खंडन

इंद्रियार्थयोः संबंधः सन्निकर्षः

इंद्रिय और अर्थ का संबंध होना सन्निकर्ष कहलाता है ।

सन्निकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात् कुतः प्रमितिकरणत्वं कुतस्तरां प्रमाणत्वं, कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम् ? [न्या० पृ० २६]

अर्थ—नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष (इंद्रिय और पदार्थ के संबंध) को प्रत्यक्ष मानते हैं । पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है । वह ज्ञान के प्रति करण कैसे हो सकता है ? और ज्ञान के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे ? और जब प्रमाण ही नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे ?

दूसरी बात यह है कि चक्षु इन्द्रिय और मन ये दोनों पदार्थों का स्पर्श किये बिना ही पदार्थों का कला ज्ञान देते हैं इसलिये सन्निकर्ष प्रमाण मानना गलत है। इस पर वैशेषिक कहता है कि 'चक्षु इन्द्रिय पदार्थों का स्पर्श करके ही प्रकाशित करती है, क्योंकि वह बाह्य इन्द्रिय है, जो बहिरिन्द्रिय होता है वे पदार्थों का स्पर्श करके ही प्रकाशित करती हैं जैसे - स्पर्शन इन्द्रिय।' इस अनुमान से चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी है और वह प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है। इसलिये सन्निकर्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस पर जेनाचार्यों का कहना है कि यह अनुमान सम्यक् नहीं है।

इस अनुमान में 'चक्षु' पद से कौन-सी चक्षु को पक्ष बनाया है! लौकिक-गोलक रूप चक्षु को या अलौकिक-किरण रूप चक्षु को? पहले पक्ष में हेतु बाधित विषय नाम का हेत्वाभास है। क्योंकि गोलक-रूप चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को अनुभव में नहीं आती है उसका अग्नि आदि के पास जाकर छूकर उसको जानना प्रत्यक्ष से बाधित है।

दूसरा पक्ष लेवो तो भी—किरण रूप आलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध ही नहीं है। यदि कहो कि चक्षु की तेजस किरणें निकल कर बाहर जाकर पदार्थों को छूती है तब ज्ञान होता है तब तो बड़ा ही अनर्थ होगा—किरणें अग्नि के पास जाकर छूकर जानते समय जल जायेंगी, पानों को जानते समय गीली हो जायेंगी; इत्यादि बड़े ही अनर्थ हो जावेंगे अतः चक्षु का छूकर जानना गलत है। एक ही समय में वृक्ष की शाखा और आकाश के चन्द्रमा का अवलोकन हो जाता है यदि चक्षु जाकर छूकर जानती है तो पहले निकटवर्ती शाखा का ज्ञान होना चाहिए पुनः बहुत दूरवर्ती चन्द्रमा का ज्ञान होना चाहिए था, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः चक्षु अप्राप्यकारी सिद्ध है। एवं सन्निकर्ष प्रमाण मानने वालों के यहां सर्वज्ञ का भी अभाव हो जाता है क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान से कोई भी भूत, भविष्यत् वर्तमान ऐसे त्रैकालिक पदार्थों को नहीं जान सकता है।

अतः बौद्धाभिमत निर्विकल्प एवं योगाभिमत सन्निकर्ष ज्ञान प्रमाण नहीं है।

जेनाचार्य द्वारा मान्य 'विशदं प्रत्यक्षं' यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण ही सुसंगत है ऐसा समझना चाहिये।

जो ज्ञान प्रत्यक्ष आदि के सदृश मालूम पड़ें या कहे जावें किन्तु प्रत्यक्ष आदि रूप न होवें वे ज्ञान ज्ञानाभास कहलाते हैं ऐसे ही सभी में आभास को लगाकर सभी को समझ लेना।

प्रत्यक्ष प्रमाणाभास का लक्षण

अवैशद्येऽपि प्रत्यक्षं तदाभासं, बौद्धस्याकस्याद्धूमदर्शनात् वन्हिविज्ञानवत् ॥६॥ (परीक्षा. ६)
अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है जैसे बौद्ध अकस्मात् धूम को देखकर अग्नि के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं।

परोक्षाभास का स्वरूप

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥७॥ (परीक्षा० ६)

स्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहना परोक्षाभास है, जैसे मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानता है। वास्तव में करण ज्ञान प्रत्यक्ष है। उसको परोक्ष मानना परोक्षाभास है।

स्मरणाभास का लक्षण

अतस्मिस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते सः देवदत्तो यथा ॥८॥ [परी० ६]

जिस पदार्थ को पहले कभी धारणारूप अनुभव नहीं हुआ था उसके अनुभव को स्मरणाभास कहते हैं। अथवा जो वस्तु 'वह' नहीं है उसे 'वह' कहकर स्मरण करना स्मरणाभास है जैसे जिनदत्त का स्मरण करके कहना कि वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥९॥ [परी० ६]

सदृश में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान तथा उसी में यह उसके सदृश है ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है, जैसे एक साथ जन्में दो बालकों में उल्टा ज्ञान हो जाता है।

तर्काभास का लक्षण

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासं ॥१०॥ [परी० ६]

अविनाभाव रहित ज्ञान में अविनाभाव का ज्ञान या जिन पदार्थों में परस्पर में व्याप्ति नहीं है, उनमें व्याप्ति का ज्ञान होना तर्काभास है जैसे किसी के एक पुत्र को काला देखकर व्याप्ति बनाना कि इसके जितने पुत्र होंगे वे काले ही होंगे इत्यादि ज्ञान तर्काभास है।

अनुमानाभास का लक्षण

इदमनुमानाभासं, ॥११॥ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥१२॥ [परी० ६]

अनुमान के अवयवों का आभास दिखलाने से अनुमानाभास सिद्ध हो जावेगा।

अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्षाभास कहते हैं। अर्थात् साध्य के तीन विशेषण थे इष्ट, अबाधित और असिद्ध। इनके उल्टे पक्षाभास बन जाते हैं। क्योंकि साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान का नाम ही अनुमान है आगे क्रमशः साधनाभासों को भी स्पष्ट करेंगे।

अनिष्ट—जो अपने को इष्ट नहीं है उसे साध्य की कोटि में रखना।

बाधित—जो प्रत्यक्ष आदि से बाधित हो उसे साध्य की कोटि में रखना।

सिद्ध—सिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास करना। इसमें बाधित पक्षाभास के पांच भेद माने गये हैं।

बाधित के भेद

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥१५॥ [परी० ६]

बाधित पक्षाभास के पांच भेद हैं। प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित।

प्रत्यक्षबाधित का दृष्टान्त

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाञ्जलवत् ॥१६॥ [परी० ६]

अग्नि ठंडी होती है, क्योंकि वह द्रव्य है जैसे जल। यहाँ अग्नि को ठंडी कहना स्पर्शन इन्द्रिय के प्रत्यक्ष से बाधित है क्योंकि छूने से अग्नि गरम होती है।

अनुमान बाधित

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ॥१७॥ [परी० ६]

“शब्द नित्य होता है क्योंकि किया हुआ है जैसे घट”। यह अनुमान बाधित पक्ष है क्योंकि ऐसा भी अनुमान कहा भी जा सकता है कि “शब्द अनित्य होता है क्योंकि वह किया गया होता है जैसे घट।” इस अनुमान से बाधा आ जाती है।

आगम बाधित

प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥१८॥ [परी. ६]

धर्म परलोक में दुःखदायी होता है क्योंकि वह पुरुष के आश्रित होता है। जो-जो पुरुष के आश्रित होता है वह दुःखदायी होता है जैसे अधर्म। यह पक्ष आगम से बाधित है क्योंकि आगम में धर्म को सुखदायी माना है और अधर्म को दुःखदायी कहा है। यद्यपि दोनों ही पुरुष के आश्रित हैं फिर भी भिन्न स्वभाव वाले हैं।

लोक बाधित

शुचि नरशिरः कपालं प्राण्यंगत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥१९॥ [परी. ६]

मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र होता है क्योंकि वह प्राणी का अंग है। जो-जो प्राणी का अंग होता है वह-वह पवित्र होता है जैसे शंख और सीप। यह पक्ष लोक बाधित है क्योंकि लोक में प्राणी का अंग होते हुये भी कोई चीजें पवित्र, और कोई अपवित्र मानी गई हैं।

स्ववचन बाधित पक्षाभास का उदाहरण

मातां मे वंध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धबंध्यावत् ॥२०॥ [परी. ६]

मेरी माता वंध्या है क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है, जैसे कि प्रसिद्ध वंध्या स्त्री। यह पक्ष अपने ही वचनों से बाधित है क्योंकि स्वयं पुत्र मौजूद है और माता भी कह रहा है फिर भी ‘मेरी माता वंध्या है’ यह कथन स्ववचन बाधित है।

इन पाँच प्रकार से बाधित विषयों को पक्ष की कोटि में रखना बाधित पक्षाभास दोष है।

अब साधन के आभासों को कहते हैं--

हेत्वाभास के भेद

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥२१॥ [परी. ६]

हेत्वाभास के चार भेद हैं। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर।

असिद्ध हेत्वाभास

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥२२॥ [परी. ६]

जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इसके स्वरूपासिद्ध, और संदिग्धासिद्ध ऐसे दो भेद हैं।

विरुद्ध हेत्वाभास

विपरीतनिश्चताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥२६॥ [परी. ६]

साध्य से विपरीत-विपक्ष के साथ जिस हेतु का रहना हो वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे "शब्द नित्य हैं क्योंकि किये हुये हैं" यहां यह कृतकत्व हेतु नित्य से विरुद्ध अनित्य में रहता है। अतः विरुद्ध हेतु है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥३०॥ [परी. ६]

जो पक्ष सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में भी चला जाता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इसे व्यभिचारी हेतु भी कहते हैं। इसके शंकित विपक्षवृत्ति और निश्चितविपक्षवृत्ति ऐसे दो भेद हैं।

शंकितविपक्षवृत्ति—'नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्' सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह वक्ता है। यहां 'वक्ता है' यह हेतु रह जावे और सर्वज्ञत्व भी रह जावे इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है अतः यह हेतु शंकित व्यभिचारी है क्योंकि इसकी विपक्ष में रहने में शंका है।

निश्चितविपक्षवृत्ति—"शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट" यहां प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द में और सपक्ष घट में रहता हुआ विपक्ष रूप नित्य आकाश में भी चला जाता है अतः निश्चित व्यभिचारी हेतु है।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास

सिद्धे प्रत्यज्ञबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥३५॥ [परी. ६]

साध्य के सिद्ध होने पर तथा प्रत्यक्षादि से बाधित होने पर जो हेतु कुछ नहीं कर सकता है, इसलिए वह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है। जैसे 'शब्द श्रवण इन्द्रिय का विषय है क्योंकि वह शब्द है'। यहां शब्दत्व हेतु सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है। अथवा "अग्नि ठण्डी है क्योंकि वह द्रव्य है" इसमें द्रव्यत्व हेतु प्रत्यक्ष से ही बाधित है। अतः ऐसे हेतु अकिञ्चित्कर होते हैं। ऐसे ही अन्वय, व्यतिरेक दृष्टान्तों का विपरीत प्रयोग करना दृष्टान्ताभास कहलाता है। अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं। साध्य विकल, साधनविकल और उभयविकल। तीनों का उदाहरण—"शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे इन्द्रिय सुख, परमाणु और घट"।

यहाँ दृष्टांत में इन्द्रिय मुख पुरुषकृत है अतः अने अपौरुषेय साध्य में न रहने से 'साध्य विकल्प' है। परमाणु मूर्तिक है, वह अमूर्तिक हेतु में नहीं रहता है अतः वह दृष्टांत 'साधन विकल्प' है।

घट पुरुषकृत और मूर्तिक है। वह अपौरुषेय साध्य और अमूर्तिक हेतु में नहीं रहता है अतः 'साध्य-साधन विकल्प' दृष्टांत है।

व्यतिरेक दृष्टांताभास के भी तीन भेद हैं—

“शब्द अपौरुषेय होता है क्योंकि वह अमूर्त है, जो-जो पौरुषेय होता है वह अमूर्तिक नहीं होता है जैसे परमाणु, इन्द्रियमुख और आकाश।”

यहां परमाणु असिद्धसाध्य व्यतिरेक है, क्योंकि वह अपौरुषेय है। इसलिये परमाणु के अपौरुषेयता का साध्य से व्यतिरेक नहीं हुआ। ऐसे ही इन्द्रियमुख असिद्ध साधन व्यतिरेक है। एवं आकाश असिद्ध साध्य-साधन व्यतिरेक है।

वाक प्रयोगाभास का लक्षण

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन वाक्यों को बोध कराने के लिये शास्त्र में अनुमान के ये पांच अवयव माने गये हैं। इनमें से कुछ कम अवयवों का प्रयोग करना गलत है। अतः वाक प्रयोगाभास कहलाता है।

आगमाभास का लक्षण

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमान्यमाभासं ॥३१॥ [परी. ६]

रागी, द्वेषी, अज्ञानी, मोही पुरुषों के वचनों से होने वाले आगम-शास्त्र को आगमाभास कहते हैं।

आगमाभास के उदाहरण

यथा नद्यास्तीरे मोदकरामयः सन्ति धावध्वं मारुदकाः ॥३२॥ अंगुल्यग्रे वृथयात् मास्त इति च ॥३३॥ विसंवादात् ॥३४॥ [परी. ६]

जैसे कि—हे बालकों ! दौड़ो, नदी के किनारे लड्डुओं के ढेर लगे हैं ऐसे वचन आगमाभास हैं अथवा अंगुलि के अग्रभाग पर सौ हाथी चढ़े हैं वह भी अनाप्त वचन हैं इन सब में विसंवाद देखा जाता है अतः ये सब आगमाभास हैं।

उपसंहार—जो प्रमाण न होवे और प्रमाण सदृश मालूम पड़े वा अन्य लोग जिन्हें प्रमाण मानने लग जावें वे सब प्रमाणाभास कहलाते हैं। यहां तक अन्य लोगों के द्वारा मान्य प्रमाणाभास, प्रत्यक्ष प्रमाणाभास, परोक्ष प्रमाणाभासों का लक्षण बतलाया है। परोक्ष प्रमाण के भेद प्रभेदों का भी गलत लक्षण होने से वे सब उन-उन नाम से प्रमाणाभास बन जाते हैं। अतः स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और आगमाभास ऐसे पांच परोक्षाभास के भेद होते हैं। उसमें भी अनुमान के पक्ष और हेतु की अपेक्षा दो भेद होने से पक्षभास, हेतुभास ऐसे दो भेद सिद्ध हैं। पुनः पक्षभास के अनिष्ट-वाचित और सिद्ध ये तीन भेद करके वाचित पक्षभास के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचन से पांच

भेद होते हैं। पुनः हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर ऐसे चार भेदों का वर्णन किया है। ऐसे ही चार्वाक द्वारा मान्य प्रमाण की एक संख्या, बौद्ध द्वारा मान्य प्रमाण की दो संख्या, इत्यादि सब प्रमाण संख्याभास कहलाते हैं। आगे प्रमाण का विषय और उसके फल में मूलतः कल्पना का नाम भी आभास है उसे बताते हैं।

प्रमाण के विषयाभास का लक्षण

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतंत्रं ॥६१॥ [परी. ६]

केवल एक सामान्य को ही ज्ञान का विषय मानना या केवल विशेष को ही मानना अथवा दोनों रूप पदार्थ को ही स्वतंत्रता से प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है यह बात पहले कही जा चुकी है। एवं प्रत्येक ज्ञान भी उभयात्मक वस्तु को ही जानता है तभी वह प्रमाण कहलाता है अन्यथा अप्रमाण कहलाता है। सांख्य पर्याय रहित केवल द्रव्य-सामान्य को ही ज्ञान का विषय कहता है। बौद्ध द्रव्यांशरहित केवलपर्याय-विशेष को ही ज्ञान का विषय कहता है एवं वैभाषिक व वैशेषिक सामान्य-विशेष स्वरूप पदार्थ को मानकर भी सामान्य और विशेष को एक दूसरे कीसहायता से रहित स्वतंत्रता से प्रमाण का विषय मानते हैं, इसलिये वे सब विषयाभास हैं क्योंकि प्रमाण का विषय परस्पर सापेक्ष उभयात्मक है।

प्रमाण के फलाभास का वर्णन

फलाभासः प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥६६॥ [परी. ६]

प्रमाण से उसके अज्ञान निवृत्ति आदि फल को सर्वथा भिन्न ही मानना या सर्वथा अभिन्न ही मानना प्रमाण फलाभास है। क्योंकि कथंचित् जिसके ज्ञान प्रकट होता है उसी को अज्ञान का अभाव, त्याग आदि फल मिलते हैं तथा कथंचित् ये फल नाम, लक्षण आदि से भिन्न भी हैं। अतः एकांत मान्यता ही आभास कहलाती है।

उपसंहार—यहाँ तक प्रमाणस्वरूपाभास, प्रमाणसंख्याभास, प्रमाणविषयाभास और प्रमाणफलाभास का वर्णन हुआ है। अब आगे न्यायदीपिकाकार ने इन विषयों में कुछ विशेषताएँ बताई हैं उनको स्पष्टीकरण करते हैं।

परोक्ष प्रमाण

अस्पष्ट प्रतिभास को परोक्ष प्रमाण कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं स्मृति आदि।

स्मृति का लक्षण

तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः स देवदत्तो मया । [न्या. दी. पृ. ५२]

'वह' इस आकार वाला, पहले अनुभव किये गये वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है, जैसे वह देवदत्त। इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाला अनुभव धारणा रूप कारण से ही होता है, क्योंकि

परार्थ में अथवा प्रह्लादि ज्ञान ही जाने पर भी धारणा के अभाव में स्मृति उत्पन्न नहीं होती है। धारणा ज्ञान ही धारणा में उस प्रकार का संस्कार पैदा कर देता है। जिससे वह कालान्तर में भी उस अनुभूत विषय का स्मरण करा देता है।

प्रश्न—यदि धारणा के द्वारा ग्रहण किये गये विषय में ही स्मरण होता है तो वह गृहीत-प्राप्ति होने से अप्रमाण ही जावेगा ?

समाधान—नहीं। ईशा आदि की तरह स्मरण में भी विषय भेद मौजूद है जिस प्रकार अथवा प्रह्लादि के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ को विषय करने वाले ईशादि ज्ञानों में विषय भेद माना गया है वैसा ही यहां समझना। देखिये ! यहां धारणा का विषय "इदंता—यह" शब्द के प्रयोग पूर्वक जाना जाता है एवं स्मृति का विषय "तत्ता—वह" इस शब्द से निर्दिष्ट होता है। अतः स्मृति ज्ञान भी विसंवाद रहित होने से प्रमाण है।

धारावाहिक ज्ञान का लक्षण

एक ही घट में घट विषयक अज्ञान को दूर करने लिए होने वाले घट ज्ञान से घट का ठीक से बोध हो गया है फिर भी 'यह घट है, यह घट है, यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुये ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं ये ज्ञान अज्ञान को दूर करने में साधकत्व नहीं हैं क्योंकि पहले 'यह घट है' इस ज्ञान से ही अज्ञान दूर हो चुका है, अतः गृहीत को ही ग्रहण करने वाला होने से यह ज्ञान अप्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

अनुभव और स्मरण पूर्वक होने वाले जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। [न्याय दी. पृ. ५६] अन्य वैशेषिक आदि 'एकत्व प्रत्यभिज्ञान' को स्वीकार करके भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करते हैं। उनका कहना है कि जो इन्द्रियों के होने पर होता है और नहीं होने पर नहीं होता है वह प्रत्यक्ष है, एवं इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक रखने वाला यह प्रत्यभिज्ञान है अतः प्रत्यक्ष में ही गमित है। किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि इन्द्रियां वर्तमानकालीन विषय को ही ग्रहण करती हैं, वर्तमान और भूतकाल की अवस्था के एकत्व को विषय नहीं कर सकती है। उसका कहना है कि इन्द्रियां सहकारी कारणों की सहायता से वर्तमान और भूत में रहने वाले एकत्व को जान लेंगी किन्तु आचार्यों का कहना है कि चाहे जितने सहकारी कारण मिल जावें, इन्द्रियां अविषय में प्रवृत्ति नहीं कर सकती हैं। अंजन से संस्कृत चक्षु सुनने का काम नहीं कर सकती है, देखने में ही विशेषता ला सकती है। अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञान पृथक् प्रमाण सिद्ध है।

नैयायिक और मीमांसक "सादस्य प्रत्यभिज्ञान" को उपमान नाम से पृथक् प्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति और अनुभव के जोड़ रूप ज्ञानों को सर्वत्र प्रत्यभिज्ञान ही समझना चाहिये अन्यथा विसदृश प्रत्यभिज्ञान को भी एक पृथक् प्रमाण कल्पित करना पड़ेगा।

तर्क प्रमाण

व्याप्तिसामान्य तर्कः । मय मय भूमयं तत्र तत्राग्नितत्त्वमिति । [व्या. ६२]

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं । जहाँ-जहाँ भूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है । यह तर्क ज्ञान का उत्पत्तिरूप है ।

कोई कहते हैं कि प्रत्यक्ष विशेष के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है अतः 'तर्क प्रमाण' को मुख्य प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं है । किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि समुक्ति, प्रत्यभिज्ञान और अनेकों द्वार का हुआ प्रत्यक्ष से तीनों भिन्नकर एक ऐसे ही ज्ञान को उत्पन्न करते हैं जो व्याप्ति को ग्रहण करने में लक्ष्य होता है, वही तर्क है । इस तर्क का निषय, प्रत्यक्ष अनुमान आदि के द्वारा असंभव है । कोशों का कहना है कि—

निष्कल्प प्रत्यक्ष के अनन्तर जो निष्कल्प उत्पन्न होता है वह व्याप्ति को ग्रहण करता है । किन्तु यह भी यत्न है इस बात कोशों से प्रश्न करते हैं कि वह निष्कल्प प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि अप्रमाण है तो उसके द्वारा ग्रहीत व्याप्ति में प्रमाणता कैसे ? यदि प्रमाण है तो वह प्रत्यक्ष है या अनुमान ? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अस्पष्ट ज्ञान है । अनुमान कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें हेतु हीन आदि की अपेक्षा नहीं है । इसलिए इन दोनों से भिन्न ही कोई प्रमाण है । और वही तो तर्क है । आपने उत्तर में 'निष्कल्प' यह दूसरा नाम रख दिया है ।

अनुमान का लक्षण

'साधनात्साध्यनिज्ञानमनुमानं ।' [व्या. पृ. १५]

साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं ।

शैब्यिक—'विषयराश्यानुमानं' [व्या. भा. १-१-५]

विषय को देखते हुए ज्ञान अनुमान है ।

अतः—यह सक्षम ठीक नहीं है । क्योंकि व्याप्ति स्मरण से सहित विषय ज्ञान अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण है । अनुमान के दो भेद हैं—स्वाधीनुमान और पराधीनुमान ।

स्वाधीनुमान के अवयव

स्वाधीनुमान के तीन अंग हैं—धर्म, साध्य और हेतु ।

धर्म—साध्य धर्म के माध्यम को धर्म कहते हैं । जैसे अग्निमान् पर्वत ।

साध्य—हेतु के द्वारा जो जाना जाय वह साध्य है । जैसे अग्नि ।

हेतु—जो साध्य का कारण होता है । जैसे भूम दर्शन । ये तीनों ही अनुमान के अंग हैं ।

अथवा स्वाधीनुमान के दो अंग भी माने जाते हैं—पक्ष और हेतु ।

पक्ष—साध्य धर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहते हैं। जैसे 'यह पर्वत अग्नि वाला है' पक्ष को ही 'प्रतिज्ञा' कहते हैं। यथा—

“धर्मधर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा यथा पर्वतोऽयमग्निमान्” । [न्याय. ७६]

धर्म और धर्मी के समुदाय रूप पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे 'यह पर्वत अग्नि वाला है'।

जब धर्म और धर्मी में भेद कथन की विवक्षा है तब तीन अंग होते हैं। जब धर्म-धर्मी के समुदाय की विवक्षा है तब दो अंग माने जाते हैं। यह धर्मी प्रसिद्ध ही होता है।

परार्थानुमान

दूसरे के उपदेश की सहायता से जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। नैयायिक कहता है कि परोपदेश वाक्य ही परार्थानुमान हैं किंतु जैनाचार्य वचनों को उपचार से ही प्रमाण मानते हैं, वास्तव में नहीं। अतः मुख्य अनुमान तो ज्ञान ही है न कि ज्ञान के कारण वचन। इस परार्थानुमान के भी स्वार्थानुमान की तरह दो या तीन अंग माने गये हैं।

नैयायिक द्वारा मान्य अनुमान के पांच अवयव

“प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः” [न्या सूत्र० १-१-३२]

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये अनुमान के पांच अवयव हैं।

पक्ष के प्रयोग को प्रतिज्ञा कहते हैं।

पंचमी विभक्ति रूप लिंग को हेतु कहते हैं।

व्याप्ति को दिखलाते हुये दृष्टांत के कहने को उदाहरण कहते हैं।

दृष्टांत की अपेक्षा लेकर पक्ष में हेतु के दुहराने को उपनय कहते हैं।

हेतु पुरस्सर पक्ष के कहने को निगमन कहते हैं। इनके उदाहरण—

'यह पर्वत अग्नि वाला है'—प्रतिज्ञा

'क्योंकि धूम वाला है।'—हेतु

जैसे रसोईघर—अन्वय दृष्टांत। जैसे तालाब—व्यतिरेक दृष्टांत।

इसीलिये यह पर्वत धूम वाला है—उपनय।

धूम वाला होने से यह अग्नि वाला है—निगमन।

अनुमान प्रयोग पद्धति—

“यह पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि धूमवाला है। जो-जो धूम वाला होता है वह वह-वह अग्नि वाला होता है, जैसे रसोईघर। जो-जो अग्नि वाला नहीं होता है, वह-वह धूम वाला नहीं होता है जैसे तालाब। इसीलिये यह पर्वत धूम वाला है। धूमवाला होने से यह अग्नि वाला है।”

ये पाँचों अवयव अनुमान प्रयोग के हैं इनमें से यदि एक भी न हो तो अनुमान प्रयोग असत है । यहाँ तक नैयायिक ने कहा है ।

जैनान्नायं कहते हैं कि उनका यह विचार गलत है क्योंकि वीतराग कथा में शिष्यों के अभिप्राय से अधिक भी अवयव माने जाते हैं किन्तु विजिगोषु कथा में प्रतिज्ञा और हेतु से जो ही अवयव कहे जाते हैं ।

विजिगोषु कथा

वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए जोत हार होने तक जो परस्पर में चर्चा होती है वह विजिगोषु कथा है, उसे वाद भी कहते हैं । [न्याय. पृ. ७६]

वीतराग कथा

गुरु तथा शिष्यों या रागद्वेष रहित विद्वानों में जो तत्त्व का निर्णय होने तक वचन श्रवण-वचन होती है वह वीतराग कथा कहलाती है । यह सौम्यचर्चा है । [न्याय. २२]

बौद्ध—लिंग वचन रूप एक हेतु का ही वादकाल में प्रयोग करना चाहिए, प्रतिज्ञा का प्रयोग अनावश्यक है ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु के प्रयोग से व्युत्पन्न जनों को भी साध्य के संकेत का निवारण नहीं हो सकेगा, अतः प्रतिज्ञा का प्रयोग अवश्य करना चाहिये । जैन सिद्धान्तानुसार वीतराग कथा में शिष्यों के आशयानुसार प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन्में से दो, तीन, चार या पाँचों का भी प्रयोग कर सकते हैं । कोई वाधा नहीं है किन्तु वाद काल में मात्र प्रतिज्ञा हेतु इन दो अवयवों अनुमान ही बोलना चाहिए, यह बात सिद्ध हुई ।

जैन हेतु का एक अविनाभाव लक्षण ही मानते हैं बौद्ध हेतु का त्रैहृष्य एवं सैवाधिक पाँच रूप वाला मानते हैं । अब उनका निराकरण करते हैं ।

बौद्ध के त्रैहृष्य हेतु का निराकरण

“पक्षधर्मत्वादिति तयलक्षणान्तिगात्कुसोत्थानम्” । [न्या. सू. २६]

पक्षधर्मत्व आदि तीन लक्षण वाले हेतु से अनुमान की उत्पत्ति होती है, ऐसा बौद्ध का कहना है । उसका स्पष्टीकरण—

पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति ये तीन रूप हेतु के लक्षण हैं ।

पक्ष धर्मत्व—साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मों को पक्ष कहते हैं जैसे अग्नि के अनुमान में पक्ष है, उस पक्ष में व्याप्त होकर हेतु का रहना ‘पक्षधर्मत्व’ है ।

सपक्ष सत्त्व—साध्य के समान धर्म वाले धर्मों को सपक्ष कहते हैं जैसे अग्नि के अनुमान में ‘सोप-धर’ सपक्ष है । उस सपक्ष में सब जगह हेतु का रहना ‘सपक्ष सत्त्व’ है ।

विपक्षव्यावृत्ति—साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मों को विपक्ष कहते हैं। जैसे—अग्नि के अनुमान में तालाब 'विपक्ष' है उन सभी विपक्षों में हेतु का न रहना 'विपक्ष व्यावृत्ति' है।

ये तीनों रूप मिलकर हेतु का लक्षण है। यदि इन तीनों में से एक रूप भी न हो तो हेतु हेत्वाभास बन जाता है। यहाँ तक बौद्ध का पक्ष है। अब जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं।

जैन—यह बौद्ध का कथन ठीक नहीं है क्योंकि पक्ष धर्मत्व के बिना भी कृतिकोदयादि हेतु शक्यो-दयादि साध्य को सिद्ध कर देते हैं। तथाहि—“शक्यं मुहूर्तति जरेभ्यति कृतिकोदयादिति” रोहिणी नक्षत्र का एक मुहूर्त के बाद उदय होगा क्योंकि अभी कृतिका नक्षत्र का उदय हो रहा है। इस अनुमान में 'रोहिणी नक्षत्र' धर्मो पक्ष है। 'एक मुहूर्त के बाद उदय' साध्य है और 'कृतिका नक्षत्र का उदय' हेतु है, किंतु यह "कृतिकोदयात्" हेतु अपने पक्ष भूत 'रोहिणी' नक्षत्र में नहीं रहता है। इसलिए इस हेतु में 'पक्षधर्मत्व' नहीं है फिर भी इसमें 'अन्यथातुल्यत्व' मौजूद है। अतः यह हेतु अपने साध्य को सिद्ध कर देता है। इसलिए बौद्धों के द्वारा मान्य हेतु का ग्रहण लक्षण अग्राह्य दोष से दूषित है।

नैयायिक सम्मत पंचरूप हेतु का कथन

नैयायिक पंचरूपता को हेतु का लक्षण कहते हैं। उसका स्पष्टीकरण—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। उनमें से प्रथम तीन रूप के लक्षण कहे जा चुके हैं। शेष दो का लक्षण अबाधितविषयत्व—साध्य के अभाव को निरवय कराने वाले बलिष्ठ प्रमाणों का न होना 'अबाधित विषयत्व' है। असत्प्रतिपक्षत्व—साध्य के अभाव को निरवय कराने वाले समान बल वाले प्रमाणों का न होना 'असत्प्रतिपक्षत्व' है। उदाहरण द्वारा देखिये—“यह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि धूमवाला है, जो-जो धूम वाला होता है वह वह अग्नि वाला होता है, जैसे रसोई घर। जो जो अग्नि वाला नहीं होता है वह वह धूम वाला नहीं होता है, जैसे तालाब। चूंकि यह धूम वाला है, इसलिए अग्नि वाला जरूर ही है।” इन पांच अवयव रूप अनुमान प्रयोग में 'धूमत्वात्' हेतु है उसमें पक्षधर्मता है क्योंकि वह पक्षभूत पर्वत में रहता है।

सपक्षसत्त्व भी है, क्योंकि सपक्षभूत रसोई घर में रहता है। विपक्षव्यावृत्ति भी है, क्योंकि धूम हेतु तालाब आदि विपक्षों में नहीं है। अबाधित विषयत्व भी है, क्योंकि धूम हेतु का जो अग्नि रूप साध्य विषय है वह प्रत्यक्ष आदि से बाधित नहीं है। असत्प्रतिपक्षत्व भी है, क्योंकि अग्नि के अभाव का साधक तुल्यबल वाला कोई प्रमाण नहीं है। इन पाँचों रूप सहित ही धूम हेतु अपने अग्नि रूप साध्य का ज्ञान कराता है। इनमें से किसी एक रूप के न होने से एक-एक दोष उपस्थित हो जाते हैं। पक्षधर्म के अभाव में असिद्ध दोष, सपक्षसत्त्व के अभाव में विरुद्ध दोष, विपक्षव्यावृत्ति के अभाव में अनैकान्तिक दोष, अबाधित विषयत्व के अभाव में कालात्ययापदिष्ट दोष एवं असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव में प्रकरणसम दोष, ऐसे पाँच रूप के अभाव में हेतु के पाँच दोष होने से पाँच हेत्वाभास प्रसिद्ध हैं। पृथक्-पृथक् इनका स्पष्टीकरण—

असिद्ध हेत्वाभास—पक्ष में जिसका रहना असिद्ध हो वह असिद्ध हेत्वाभास है, जैसे—शब्द अस्तित्व

है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता है, । यहां 'चाक्षुषत्वात्' हेतु पक्षभूत शब्द में नहीं है, क्योंकि शब्द तो श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है

विरुद्ध हेत्वाभास—साध्य के अभाव के साथ जो हेतु व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे— शब्द नित्य है क्योंकि वह कृतक है यहां कृतक हेतु अपने साध्यभूत नित्य से रहित अनित्य से व्याप्त है और सपक्ष आकाश आदि में नहीं रहता है अतः विरुद्ध हेत्वाभास है ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास—जो हेतु व्यभिचार सहित है, साध्य के अभाव में भी रहता है या विपक्ष में चला जाता है वह अनैकान्तिक है । 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है' यहां प्रमेयत्व हेतु अपने साध्य अनित्य का व्यभिचारी है । क्योंकि आकाश आदि विपक्ष में नित्यत्व के साथ भी रह जाता है, अतः विपक्ष से अलग न होने से यह हेतु 'अनैकान्तिक, हेत्वाभास है ।

कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास—जिस हेतु का विषय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हो वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है । जैसे—'अग्नि ठण्डी है, क्योंकि वह पदार्थ है' यहां 'पदार्थत्व' हेतु अपने विषय 'ठण्डापन' में प्रत्यक्ष से बाधित है । अतः अबाधितविषयता न होने से 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास है ।

प्रकरणसम हेत्वाभास—जिसका विरोधी साधन मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है । जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्म से रहित है' । यहां नित्यधर्म रहितत्व हेतु का विरोधी साधन मौजूद है, अर्थात् 'शब्द नित्य है क्योंकि अनित्य धर्मों से रहित है' इस प्रकार नित्यता का साधन करना, उसका प्रतिपक्षी साधन है । अतः असत्प्रतिपक्षता के न होने से 'नित्यधर्मरहितत्व' हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है ।

इन पांच हेत्वाभास दोषों से रहित पांच रूपता हेतु का लक्षण है । पांचों रूपों में से किसी एक से रहित होने से हेतु अहेतु है । यहां तक नैयायिक ने कहा है ।

जैनाचार्यों द्वारा पांचरूप्य हेतु का खंडन

नैयायिकों द्वारा हेतु का पांचरूप्य लक्षण भी ठीक नहीं है क्योंकि पक्षधर्मत्व से रहित भी 'कृत्तिकोदय हेतु' रोहिणी के उदय रूप साध्य का गमक है । अतः पांचरूपता लक्षण हेतु अव्याप्ति दोष से दूषित है । [न्या. पृ. ८५-८८]

दूसरी बात यह है कि आप नैयायिकों ने ही हेतु के तीन भेद माने हैं । केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी । इन तीनों में से पहले के दो हेतु में पांचरूपता नहीं है, मात्र अन्वयव्यतिरेकी हेतु में ही पांचरूपता है ।

केवलान्वयी हेतु

'पक्षसपक्षवृत्तिविपक्षरहितः केवलान्वयी । यथा—अदृष्टादयः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षं 'यथाग्न्यादि' । [न्या. पृ. ८६]

जो पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित है वह केवलान्वयी हेतु है जैसे—'पुण्यपापादि किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं । जो-जो अनुमान से जाने जाते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष होते हैं जैसे—अग्नि आदि ।' यहां 'पुण्यपापादि' पक्ष है । 'किसी के प्रत्यक्ष' यह साध्य है 'अनुमान से जाना जाता है' यह हेतु है । 'अग्नि आदि' यह अन्वय दृष्टांत है । यह 'अनुमेयत्व' हेतु अदृष्ट आदि पक्ष में रहता है और सपक्ष अग्नि आदि में भी रहता है । अतः इस हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्ष सत्त्व हैं । किन्तु विपक्ष यहाँ कोई है ही नहीं क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और सपक्ष में आ गये, इसलिये विपक्ष व्यावृत्ति है ही नहीं ।

केवल व्यतिरेकी का कथन

“पक्षवृत्तिविपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी । यथा—जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वात् यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठं इति” ।

[न्या. पृ. ८०]

जो हेतु पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता है और सपक्ष से रहित है वह हेतु केवल व्यतिरेकी है । जैसे जिन्दा शरीर जीवसहित होना चाहिए, क्योंकि वह प्राणादि वाला है । जो-जो जीवसहित नहीं होता है वह-वह प्राणादिमान् नहीं होता है, जैसे मिट्टी का ढेला । यहां 'जिन्दा शरीर' पक्ष है, 'जीवसहितत्व' साध्य है । 'प्राणादिमान्' हेतु है और 'लोष्ठादिक' व्यतिरेक दृष्टान्त है । प्राणादिमान् हेतु पक्षभूत जिन्दा शरीर में रहता है और विपक्ष लोष्ठादिक से व्यावृत्त है । तथा सपक्ष यहां है ही नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और विपक्ष के अन्तर्गत हो जाते हैं । अतः इसमें भी पंचरूपता नहीं है ।

अन्वय-व्यतिरेकी हेतु का उदाहरण

“तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी । यथा शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्, यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं यथा घटः यद्यदनित्यं न भवति तत्तत्कृतकं न भवति यथा आकाशः तथा चायं कृतकः, तस्मान्नित्य एवेति” । [न्या.पृ. ८६]

जो हेतु पांचरूपों से सहित है वह अन्वय व्यतिरेकी है । जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जो-जो किया जाता है वह-वह अनित्य होता है, जैसे घड़ा, जो जो अनित्य नहीं होता है वह-वह किया नहीं जाता, जैसे—आकाश और यह शब्द किया जाता है, इसलिए अनित्य ही है ।

यहाँ 'शब्द' पक्ष है उसकी 'अनित्यता' साध्य है । 'कृतकत्व' हेतु है । वह हेतु पक्षभूत शब्द का धर्म है अतः इस हेतु में 'पक्षधर्मत्व' है । सपक्ष घटादिकों में रहता है, अतः 'सपक्षसत्त्व' है । विपक्ष आकाश में नहीं रहता है अतः विपक्ष से व्यावृत्त है । हेतु का विषय—अनित्य किसी प्रमाण से बाधित नहीं है अतः 'अबाधितविषयत्व' है । एवं प्रतिपक्षी साधन के न होने से 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी विद्यमान है । अतः 'कृतकत्वात्' हेतु इन पांचों रूपों से विशिष्ट होने से 'अन्वयव्यतिरेकी' कहलाता है ।

इन तीन हेतुओं के लक्षण से आप नैयायिकों द्वारा ही मान्य हेतु की पंचरूपता का निराकरण हो जाता है। क्योंकि केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतुओं में पंचरूपता नहीं है।

जो नैयायिक का कहना है कि असिद्ध विरुद्ध आदि पाँचों दोषों को दूर करने के लिये हेतु में पाँच रूपता है वह भी गलत है। क्योंकि अन्यथानुपपत्ति लक्षण से विधिष्ट हेतु असिद्ध आदि दोषों का निराकरण कर देता है, और यदि ये पाँच रूप विद्यमान हैं किन्तु अन्यथानुपपत्ति रूप अविनाभाव नहीं है तब तो वह हेतु हेत्वाभास ही कहलाता है। तथाहि—

[पाँचरूप्य, त्रैरूप्यहेतु हेत्वाभास क्यों है ?]

“गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति, मैत्रीतनयत्वात्, संप्रतिपन्नमैत्रीतनयवत् ।”

[व्या. पृ. ६१]

“गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र काला होना चाहिये क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, अन्य मौजूद मैत्री के पुत्रों की तरह।” यहाँ ‘मैत्रीतनयत्वात्’ हेतु पक्षभूत गर्भस्थ मैत्री के पुत्र में रहता है अतः इस हेतु में ‘पक्ष धर्मत्व’ मौजूद है। सपक्षभूत मौजूद मैत्री पुत्रों में रहने से ‘सपक्षसत्त्व’ भी है विपक्षभूत गोरु चैत्र के पुत्रों से व्यावृत्त होने से विपक्ष से व्यावृत्ति रूप भी है। कोई बाधा नहीं है इसलिये ‘अवाधितविषयता’ भी है, क्योंकि गर्भस्थ मैत्रीपुत्र का कालापन किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है। विरोधी समान बल वाला कोई प्रमाण न होने से इस हेतु में ‘असत्प्रतिपक्षत्व’ भी है। इस प्रकार ‘मैत्रीतनयत्वात्’ हेतु में पाँचों रूप विद्यमान हैं। तीन रूप तो ‘हजार में सौ’ के न्याय से स्वयं सिद्ध हैं किन्तु अन्यथानुपपत्ति न होने से यह हेतु हेत्वाभास है क्योंकि ‘मैत्रीतनयत्वात्’ हेतु से गर्भस्थ पुत्रों के कालापन का अविनाभाव निश्चित नहीं है कदाचित् गर्भस्थ बालक गौरा भी हो सकता है।

अतः अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु ही सम्यक् हेतु है। यदि अन्यथानुपपत्ति से सहित ही पाँचरूपता हेतु का लक्षण है तो अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का लक्षण सिद्ध है, पाँच रूपता नहीं है।

[बौद्ध के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण]

“अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्” ॥१॥

अर्थ—जहाँ अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ तीन रूपों के मानने से क्या ? और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ तीन रूपों के सद्भाव से भी क्या ? तात्पर्य यह है कि अन्यथानुपपत्ति के बिना हेतु की तीन रूपता अभिमत फल का संपादक नहीं है। बौद्धों के लिये यह उत्तर है।

[नैयायिक के पाँचरूप्य हेतु का खंडन]

“अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः ॥२॥”

[प्रमाण प. पृ. ७२]

अर्थ—जहाँ हेतु में अन्यथानुपपत्ति है वहाँ पाञ्च रूपों के मानने से क्या प्रयोजन है ? और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ पाञ्च रूपों के सर्वभाव से भी क्या प्रयोजन है ? तात्पर्य यह है कि अन्यथानुपपत्ति के बिना पाञ्च रूप सर्वथा निरकल है। अन्यथानुपपत्ति—जो साध्य के साथ अविनाभावी है—साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के बिना नहीं होता है वह अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु है।

हेतु के दो भेद हैं—विधि रूप और निषेध रूप। विधि रूप हेतु के भी विधि साधक और प्रतिषेध साधक दो भेद हैं एवं निषेध रूप हेतु के भी दो भेद हैं—विधि साधक और प्रतिषेध साधक।

इस सबके भेद प्रमेयों के नाम बताये जा चुके हैं।

विशेष लक्षण अन्य ग्रन्थों से देख लेना चाहिये।

अनावाची के हेतुभाव के चार भेद ही माने हैं, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

[आगम का लक्षण]

“आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।” [न्या. पृ. ११३]

आप्त के वाक्यों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

[आप्त का लक्षण]

“आप्तः प्रमितिसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशः।” [न्या. पृ. ११३]

जो प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता—सर्वज्ञ है और परमहितोपदेशी है वह आप्त है।

वैदिक आदि के द्वारा माने गये आप्त सर्वज्ञ न होने से आप्ताभास हैं—सच्चे आप्त नहीं हैं। क्योंकि उनके द्वारा माने गये आप्त का ज्ञान स्वयं को नहीं जानता है। पुनः उसके एक ही ज्ञान है उसको जानने वाला ज्ञानांतर भी नहीं है। जब वह ईश्वर विशेषण भूत अपने ज्ञान को ही नहीं जानता है तो उस ज्ञान विशिष्ट आत्मा को कि 'मैं सर्वज्ञ हूँ।' ऐसा कैसे जानेगा ? और जब अनात्मज्ञ है तब असर्वज्ञ ही है सर्वज्ञ नहीं है। एवं ब्रह्म आदि भी सच्चे आप्त नहीं हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जावेगा।

[प्रमाण का विषय]

“अनेके अन्ता धर्माः सामान्यविशेषपर्यायगुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः।” [न्या. ११७]

जिसमें अनेकों अंत-धर्म सामान्य विशेष पर्याय और गुण पाये जाते हैं उसे अनेकांत कहते हैं। मतलब सामान्य आदि अनेक धर्म वाले पदार्थ को अनेकांत कहते हैं।

तत्र सामान्यमनुवृत्तिस्वरूपम् । तद्धि घटत्वं पृथुबुध्नोदराकारः गोत्वमिति सास्नादिमत्त्वमेव ।

[न्या. ११७]

अनुगत व्यवहार के विषयभूत सदृश परिणामात्मक 'घटत्व' 'गोत्व' आदि अनुगत स्वरूप को सामान्य कहते हैं। वह घटत्व त्यूत कम्बु ग्रीवादि स्वरूप तथा 'गोत्व' सास्ना आदि स्वरूप ही है।

विशेषोऽपि स्थूलोऽयं घटः सूक्ष्मः इत्यादि व्यावृत्तप्रत्ययालम्बनं, घटादिस्वरूपमेव ।”

[व्या. पृ. १२०]

विशेष भी सामान्य की ही तरह 'यह स्थूल घट है, यह छोटा है।' इत्यादि व्यावृत्त प्रतीति का विषयभूत घटादि व्यक्ति स्वरूप ही है। इसी बात को भगवान् माणिक्यर्षि भट्टारक ने भी कहा है कि 'प्रमाण का विषय सामान्य-विशेष रूप है।'

पर्याय—परिणमन को पर्याय कहते हैं। उसके दो भेद हैं अर्थपर्याय, व्यंजन पर्याय।

उसमें भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु स्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। इसी एक देश को मानने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने रूप अर्थक्रियाकारिता का नाम व्यक्ति-व्यंजन है, उस व्यंजन से युक्त पर्याय को व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे—मिट्टी आदि को पिंड, स्थास, कोश, कुशूल, और कपाल आदि पर्यायों हैं।

गुण—जो संपूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं, उन्हें गुण कहते हैं। और वे वस्तुत्व, रूप, गंध, स्पर्श आदि हैं। गुण के भी दो भेद हैं—सामान्य और विशेष। जो सभी द्रव्यों में रहें वे सामान्य गुण हैं जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। जो उसी एक द्रव्य में रहते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। जैसे—रूपरसादि। इन सामान्य विशेष रूप गुण और पर्यायों का आश्रय द्रव्य है। ऐसी अनेकान्तात्मक द्रव्य रूप वस्तु ही प्रमाण का विषय है। एवं अनेक धर्मात्मक वस्तु को विषय करने वाला प्रमाण है। वस्तु के एक धर्म को सापेक्ष ग्रहण करने वाला नय है। वस्तु के एक धर्म को निरपेक्ष रूप से ग्रहण करने वाले नय नयाभास या कुनय कहलाते हैं।

यहां तक संक्षेप से प्रमाण और प्रमाणाभास को बताया है आगे कुछ विशेष समीक्षा करते हैं।

प्रमाणों के बारे में विशेष समीक्षा

प्रमाण विचार

दार्शनिक परम्परा में सर्वत्र 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणं' इस निरुक्ति के अनुसार जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं।

नास्तिक वादी चार्वाक ने 'मानं त्वक्षजमेव हि' इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है।

वैशेषिक-नैयायिक

दार्शनिक लोगों में सर्वप्रथम कणाद ने प्रमाण का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है। 'अदुष्टं विद्या' [वैशेषिक सूत्र ६-२-१२] निर्दोष विद्या को प्रमाण कहा है।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम के न्याय सूत्र में तो प्रमाण का सामान्य लक्षण उपलब्ध नहीं है पर

उनके टीकाकार वात्स्यायन ने अवश्य ही लक्षण किया है—'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' [न्याय सा. पृ. १८] उपलब्धियों के साधन को प्रमाण माना है।

उद्योत कर ने भी 'उपलब्धिहेतुः प्रमाणं' [न्याय वा. पृ. ५] उपलब्धि के हेतु को ही प्रमाण कहा है।

जयंतभट्टने 'प्रमाकरणं प्रमाणं' [न्याय म. पृ. २५] प्रमा के कारण को प्रमाण कहा है।

उद्ययन ने 'यथार्थानुभवो मानमन्तपेक्षतयेष्यते' [न्या. कुमु. ४, १] यथार्थ अनुभव को प्रमाण कहा है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना कि 'उद्ययन' के पहले न्याय वैशेषिक दर्शन में 'अनुभव पद' वृष्टि-गोचर नहीं होता है।

इस प्रकार नैयायिक वैशेषिक दर्शन में प्रमा के कारण को प्रमाण माना गया है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमा के तीन कारण माने हैं—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, और ज्ञान। किन्तु इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमा का कारण मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और सन्निकर्ष अज्ञान रूप हैं, अतः वे अज्ञान की निवृत्ति रूप प्रमा के कारण कैसे हो सकते हैं? अज्ञान निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही होना चाहिए। सन्निकर्ष को प्रमाण कहने में पहले दोष दिखाया है।

वृद्ध नैयायिकों ने कहा है कि—'अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्धोपलब्धिं विदधती बोधान्बोधनभावना सामग्री प्रमाणं'। [न्याय मं. पृ. १२]

अव्यभिचारिणी असंदिग्ध अर्थ की उपलब्धि को कराने वाली ज्ञानात्मक तथा अज्ञानात्मक दोनों प्रकार की सामग्री ही प्रमा का कारण है वही प्रमाण है। अतः वे कारक साकल्य-इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि कारणों की समग्रता को प्रमाण कहते हैं। इस विषय में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि अर्थ की उपलब्धि में साधकतम कारण तो ज्ञान है और कारक साकल्य की सार्थकता उस ज्ञान को उत्पन्न करने में है, क्योंकि ज्ञान को उत्पन्न किये बिना कारक साकल्य अर्थ का बोध नहीं करा सकता। अतः प्रमा का कारण रूप प्रमाण ज्ञान ही है इन्द्रिय सन्निकर्ष, कारक साकल्य आदि नहीं हैं क्योंकि वे अचेतन हैं।

मीमांसक —

मीमांसा दर्शन में प्राभाकर और भाट्ट दो सम्प्रदाय हैं—उनमें से प्राभाकरों ने—'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्' [बृहती १-१-५] अनुभूति ही प्रमाण का लक्षण है ऐसा कहा है। एवं ज्ञातृ व्यापार को भी प्रमाण कहा है।

किन्तु एक ही अर्थ की अनुभूति विभिन्न व्यक्तियों को अपनी-अपनी भावना के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती है, इसलिये केवल अनुभूति को प्रमाण नहीं माना जा सकता। ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानने में उनका मतलब यह है कि 'अर्थ प्रकाशन ज्ञाता के व्यापार द्वारा होता है' अतः ज्ञाता का व्यापार प्रमाण है। किन्तु ज्ञाता का व्यापार अर्थ प्रकाशन में या उसके जानने में प्रमाण तभी माना जा सकता है जब कि उसका व्यापार यथार्थ वस्तु के बोध में कारण हो। जहाँ पर यथार्थ वस्तु के ज्ञान में कारण न होकर विपरीत ही अर्थ ज्ञान करा रहा है वहाँ प्रमाण कैसे होगा?

भाट्टों ने 'अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्' [भा. दी. पृ. १२३]

अज्ञात यथावस्थित अर्थ के जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है, किंतु यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि उन्होंने स्वयं गृहीतग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण माना है।

कुमारिल भट्ट ने प्रमाण के सामान्य लक्षण में पांच विशेषण दिये हैं—

“तत्रापूषाथंविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् । [प्रमाण का. पृ. २१]

जो अपूर्व को जानने वाला हो, निश्चित हो, बाधाओं से रहित हो, निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ हो और लोकसम्मत हो वह प्रमाण कहलाता है।

उक्त प्रमाण लक्षण में यद्यपि कोई बात आपत्ति जनक प्रतीत नहीं होती, फिर भी अन्य दार्शनिकों ने इस लक्षण की आलोचना की है। विशेष दूषण यह है कि—मीमांसकों ने ज्ञान को परोक्ष माना है, किंतु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि जो ज्ञान स्वयं परोक्ष है वह प्रमाण कैसे हो सकता है ?

बौद्ध—

बौद्ध दर्शन में 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्' [प्रमाण स. टी. पृ. ११] अज्ञात के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

दिग्नाग ने—'स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपार्थनिश्चयः ।

विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥' [प्रमाण स. पृ. २१०]

विषयाकार को प्रमाण तथा विषयाकार अर्थनिश्चय को और स्वसंवित्ति को प्रमाण का फल माना है।

धर्मकीर्ति ने प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादी' पद को जोड़कर दिग्नाग प्रतिपादित लक्षण का ही समर्थन किया है। तत्त्वसंग्रहकार शांतरक्षित ने सारूप्य और योग्यता को प्रमाण माना है। तथा विषयाधिगति और स्वसंवित्ति को फल माना है। मोक्षकार गुप्त ने—प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्' [तर्क भा. मोक्षकार गुप्त पृ. १]

अपूर्व अर्थ को विषय करने वाले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस प्रकार बौद्धों ने अज्ञातार्थ प्रकाशक अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है।

बौद्धों के यहां प्रमाण और फल में अभेद होने से यद्यपि प्रमाण ज्ञान रूप है तथापि विषयाकारता को ही इन्होंने प्रमाण माना है। यद्यपि ज्ञान गत सारूप्य ज्ञान स्वरूप ही है फिर भी ज्ञान का विषयाकार होना एक जटिल समस्या है, क्योंकि अमूर्तिक ज्ञान का मूर्तिक पदार्थों के आकार होना संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान को विषयों के आकार होना ही मानने से संशय-विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि वे ज्ञान भी तो विषयाकार हैं।

सांख्य—

सांख्यों ने 'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्' [योगद. व्या. पृ. २७]

श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति-व्यापार को प्रमाण माना है। किन्तु इन्द्रिय व्यापार को प्रमाण मानना उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियों के समान उनका व्यापार भी अचेतन और अज्ञान रूप ही होगा। अतः अज्ञान रूप व्यापार जानने रूप क्रिया का साधकतम कारण नहीं हो सकता है।

उपसंहार—यौग (नैयायिक-वैशेषिक) इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान को प्रमा का करण मानते हैं। प्राभाकर ज्ञाता के व्यापार को, मीमांसक इन्द्रिय को, बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) और योग्यता को जानने रूप क्रिया का करण मानते हैं किन्तु ये सब मान्यताएं दूषित हैं। इनको विशेष समझने के लिए प्रमेयकमल मार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थ देखना चाहिए।

जैनाचार्य ज्ञान को ही प्रमा—जानने रूप क्रिया का करण कहते हैं। उसीका स्पष्टीकरण—

जैन—

जैन दर्शन में आचार्य श्री समन्तभद्र महोदय ने 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं' तत्त्व ज्ञान को प्रमाण कहा है [अष्टसं.] अन्यत्र स्वयंभुस्तोत्र में—'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणं' स्वपरावभासक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने 'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविर्वाजितम्' [न्यायावतार श्लो. १]

स्वपर अवभासी तथा बाधारहित ज्ञान को प्रमाण कहा है। श्री अकलंक देव ने 'व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्' अपने और अर्थ के ग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

[लघीयत्रस्य का. ६०]

अन्यत्र श्री अकलंक देव ने ही —'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्'

[अष्टशती का. ३६]

अनधिगत अर्थ को जानने वाले अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहा है

श्री विद्यानन्द महोदय ने 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' [प्रमाणपरी. पृ. ५१] पहले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहकर पुनः 'स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्' [प्रमाण प.]

सम्यग्ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान है। ऐसा स्पष्ट किया है।

इन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है। क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे अपूर्व अर्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, स्वार्थ व्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है किन्तु माणिक्यनन्दि आचार्य महोदय ने—'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' [परीक्षा मु. सू. १]

स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक—निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है। एवं स्वयं ग्रन्थकार ने अपूर्वार्थ पद का लक्षण किया है—अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥ [प. मु. प्र. प.]

जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं किया गया है वह अपूर्वार्थ है। अर्थात् जो वस्तु किसी यथार्थ ग्राही प्रमाण से अभी तक जानी नहीं गई है वह अपूर्वार्थ है। क्योंकि जो किसी ज्ञान से जान ली गयी है उसका जानना व्यर्थ है इस वास्ते अपूर्व विशेषण सूत्र में दिया है। इसलिए यहां पर ईहा आदि ज्ञानों का विषय भूत पदार्थ अवग्रह आदि ज्ञानों के द्वारा ज्ञात होने पर भी पूर्वार्थ नहीं है, अपितु अपूर्वार्थ ही है क्योंकि अवग्रहादि के द्वारा ईहादि ज्ञान के विषयभूत अवान्तर विशेष का निश्चय नहीं होता है। अन्य प्रकार से भी अपूर्व का लक्षण करते हैं

‘दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक’ ॥५॥ [प. मु. प्र. प.]

दृष्ट—अन्य किसी प्रमाण के द्वारा जाने गये पदार्थ में भी समारोप-संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय आ जाता है तो वे भी अपूर्वार्थ हो जाते हैं।

इस प्रकार से जैनाचार्यों द्वारा कथित सभी प्रमाण के लक्षणों में विरोध नहीं है। ये लक्षण एक दूसरे के समर्थक हैं क्योंकि वास्तव में ‘ज्ञान’ ही प्रमाण कहलाने योग्य है। उस ज्ञान से ही ‘हिताहित-प्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्’ हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है, अन्य इन्द्रिय, सन्निकर्ष आदि अचेतन से नहीं हो सकता है। अतः स्वपर प्रकाशी सम्यक् तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। यह समझना चाहिए।

प्रमाण के भेद का विचार

चार्वाक ने एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना है।

बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। सांख्य ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ऐसे तीन भेद माने हैं। नैयायिक ने उसमें उपमान और मिला दिया है। मीमांसक इसी में अर्थापत्ति और अभाव मिलाकर छह भेद कर देते हैं।

जैनाचार्यों ने सर्वत्र प्रमाण के दो भेद किये हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दो भेदों में ही उपर्युक्त प्रमाण के भेद गर्भित हो जाते हैं।

सिद्धान्त ग्रन्थों में आचार्य श्री उमास्वामी आदि ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं विकल और सकल विकल में अवधि, मनःपर्यय एवं सकल में केवल ज्ञान है।

परोक्ष प्रमाण के मति श्रुत दो भेद करके मतिज्ञान के पर्यायवाची नामों में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि—‘मतिःस्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थातरम्’ ॥१३॥ ‘मति, स्मृति, प्रत्यभिमान, तर्क और अनुमान ये पाँचों मतिज्ञान के ही पर्याय वाची नाम हैं। [तत्त्वार्थसूत्र प्र. अ.]

न्याय ग्रन्थों में आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं सांख्यव्यवहारिक और पारमार्थिक। सांख्यव्यवहारिक से मतिज्ञान को लिया है। और उसके अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा रूप से चार भेद करके पाँच इन्द्रिय और मन से गुणा करके बहु आदि पदार्थ के १२ भेदों से भी गुणित

करके ३३६ भेद कर दिये हैं। जिनका स्पष्टीकरण पहले आ चुका है। पारमार्थिक के विकल सकल भेद करते हैं। तथा मति के पर्याय वाची स्मृति आदि चारों को परोक्ष में ले लेते हैं। उन चारों में श्रुतज्ञान को आगम प्रमाण से मिलाकर के परोक्ष के पांच भेद कर देते हैं यथा—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं।

क्योंकि स्मृति आदि मतिज्ञान के समान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं हैं। यही कारण है कि इन्हें परोक्ष में लिया गया है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण में ज्ञान के पांचों भेद आ जाते हैं।

अन्य दार्शनिकों ने स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क को पृथक् से प्रमाण में नहीं लिया है। अतः सभी के द्वारा मान्य प्रमाण संख्या अपूर्ण है।

जैनाचार्यों ने अन्य जनों द्वारा मान्य उपमान प्रमाण को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भूत कर लिया है। अर्थापत्ति प्रमाण तो अनुमान में हो शामिल हो जाता है। एवं अभाव प्रमाण का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है ऐसा बताया है। क्योंकि—

‘गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।

मानसं नास्तितान्नानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥ [कुमारिल. मीमांसा श्लोक]

यहाँ वस्तु का सद्भाव-घट रहित केवल भूतल को देखकर और प्रतियोगी-घट की याद कर बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित ‘नहीं है’ इस रूप जो मानस ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है ऐसा मीमांसक मत में कुमारिल भट्ट का कहना है। अतः ‘भूतल को देखना’ प्रत्यक्ष में शामिल है। ‘घट का स्मरण स्मृति’ ज्ञान में अन्तर्भूत है। इत्यादि।

प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार

दार्शनिक जगत् में प्रत्यक्ष का लक्षण अनेक प्रकार का उपलब्ध होता है।

नैयायिक और वैशेषिक—‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्’ । [न्याय सू. १-१-४]

इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष है।

मतलब सामान्यतया ये लोग इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं।

सांख्य—श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम् । ये लोग निर्विकल्प श्रोत्र आदि इन्द्रियों के व्यापार को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

मीमांसक—‘तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म ततः प्रत्यक्षम् । [जैमिनि. १-१-४]

इन्द्रियों का आत्मा के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होने वाली बुद्धि को प्रत्यक्ष कहते हैं।

बौद्ध—

बौद्धदर्शन में तीन मान्यतायें हैं—वसुबन्धु, दिग्नाग और धर्मकीर्ति । वसुबन्धु ने—‘अर्थादिज्ञानं प्रत्यक्षम् [प्रमाण स. पृ. ३२] अर्थजन्य निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है ।

दिग्नाग ने—‘प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् [प्रमाण स. १-३]

नाम जाति आदि रूप कल्पना से रहित निर्विकल्पज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है ।

धर्मकीर्ति ने—‘कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् [न्यायविन्दु पृ. ११]

निर्विकल्प तथा अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है ।

सामान्यतया सभी बौद्ध तार्किकों ने निर्विकल्प को प्रत्यक्ष स्वीकार किया है ।

जेनाचार्य—

जेनाचार्यों ने “प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं” [लघीयस्त्रय का. ३] कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि स्पष्ट-निर्मल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है । सिद्धान्त ग्रन्थों में तो आत्मा से उत्पन्न हुये ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है किन्तु न्याय में इन्द्रिय मन निमित्तक ज्ञान को भी साँव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है ।

अकलंक देव ने प्रत्यक्ष लक्षण में उपात्त वैशद्य का खुलासा कर दिया है यथा—

अनुमाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।

तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥ [लघी. का. ४]

जो अनुमान आदि की अपेक्षा से रहित ज्ञान का विशेष प्रतिभास है वह वैशद्य—विशदता है इससे भिन्न अवैशद्य है ।

ज्ञान के कारण—

बौद्ध ज्ञान के प्रति अर्थ और आलोक को कारण मानते हैं । उन्होंने चार प्रत्ययों—कारणों से संपूर्ण ज्ञानों (स्वसंवेदनादि) की उत्पत्ति वर्णित की है । वे प्रत्यय ये हैं—समनंतरप्रत्यय, आधिपत्य-प्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय और सहकारिप्रत्यय । पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता है इसलिये वह ‘समनन्तर प्रत्यय’ कहलाता है ।

चक्षुरादिक इन्द्रियां आधिपत्य प्रत्यय कही जाती हैं ।

अर्थ—विषय ‘आलम्बन प्रत्यय’ कहा जाता है । आलोक आदि ‘सहकारी प्रत्यय’ हैं ।

इस तरह बौद्धों ने इन्द्रियों के अलावा अर्थ और आलोक को भी कारण स्वीकार किया है । अर्थ की कारणता पर तो यहां तक कह दिया है कि ज्ञान यदि अर्थ से उत्पन्न न हो तो वह अर्थ को जान भी नहीं सकता है । उनका यह सिद्धान्त है कि ‘नाकारणं विषयः’ जो पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय भी नहीं है । इसीलिये ये बौद्ध अर्थ से ज्ञान का तद्रुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसाय रूप मानते हैं और इसी से प्रतिकर्मव्यवस्था सिद्ध करते हैं ।

नैयायिक भी अर्थ को ज्ञान का कारण मानते हैं परन्तु अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। क्योंकि ये लोग ज्ञान के प्रति सीधा कारण सन्निकर्ष को मानते हैं। इसीलिए जैनों ने नैयायिक आदि के अर्थकारणतावाद पर इतना विचार नहीं किया है जितना कि बौद्धों के अर्थालोक कारणतावाद पर किया है। जैनाचार्य आवरण के क्षयोपशम को ही प्रत्येक ज्ञान के प्रति कारण मानते हैं। इस विषय पर श्री अकलंक देव ने संक्षेप से कह दिया है कि—

‘अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिरर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥ [लघीय. ५३]

‘यह अर्थ है’ ज्ञान तो यह जानता है, किन्तु ‘अर्थ से मैं उत्पन्न हुआ हूँ’ इस बात को वह नहीं जानता है, यदि जानता तो किसी को विवाद नहीं होना चाहिये था। अतः ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष

“सांख्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्” [लघीय. स्वोप. का. ४]

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय-मन से जन्य ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। सांख्यवहारिक उसे इसलिये कहते हैं कि लोक में दूसरे दर्शनकार इन्द्रिय, मन सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तव में तो जो ज्ञान पर निरपेक्ष एवं आत्म मात्र सापेक्ष तथा पूर्ण निर्मल है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः लोक व्यवहार की दृष्टि से अक्षजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। सिद्धान्त की भाषा में तो उसे परोक्ष ही कहा गया है।

मुख्य प्रत्यक्ष

दार्शनिक जगत् में प्रायः सभी ने एक ऐसा प्रत्यक्ष स्वीकार किया है जो लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है और जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष योगिप्रत्यक्ष या योगिज्ञान के नाम से कहा गया है। यद्यपि किसी-किसी ने इस प्रत्यक्ष में मन की अपेक्षा वर्णित की है तथापि योगजधर्म की प्रमुखता होने के कारण उसे अलौकिक ही कहा है। कुछ ही हो, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि आत्मा में एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैन-दर्शन में ऐसे ही आत्म मात्र सापेक्ष साक्षात् स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण का विचार

जैन दर्शन में प्रमाण का दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धों ने परोक्ष शब्द का प्रयोग अनुमान के विषय भूत अर्थ में किया है। यथा—“द्विविधो अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च । तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रिय-माणः प्रत्यक्षः । परोक्षः पुनरसाक्षात्परिच्छिद्यमानोऽनुमेयत्वादानुमानविषयः । [प्रमाण प. पृ. ६५]

अर्थ के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उसमें प्रत्यक्ष का विषयभूत साक्षात् किया गया अर्थ प्रत्यक्ष है। परोक्ष अर्थात् असाक्षात् किया गया पदार्थ परोक्ष है वह अनुमेय रूप होने से अनुमान का विषय है।

किन्तु यैतदर्थान्ते में परोक्ष भाव का प्रयोग परोक्षज्ञान में ही होता कहा जा रहा है । दूसरे अत्य-
क्षता और परोक्षता अनुभूति: आत्मनिष्ठ बन्ने हैं । आज को अत्यक्ष एवं परोक्ष होने से अर्थ की उपचार से
अत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है । अतः लोक व्यवहार में इन्द्रिय व्यापार रहित ज्ञान को परोक्ष कहा
गया है जबकि यैतदर्थान्ते में इन्द्रियवादि धर को अवेक्षा से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है । यथा—
“उपशान्तानुशातपरशासनव्यादयव्यक्तः परोक्षश्च” अतः एतत्त-इन्द्रिय और मन अनुभूत-उपशान्त उपदेश आदि
से पर है इनको अज्ञानता से जो भाव होता है वह परोक्ष कहताता है । [अनन्तं भा० पु० १२]

श्री अकालक देव ने “आत्मसंज्ञे विद्यारविभूतिः प्रत्यक्षवत्, इतरस्य परोक्षता ।”

[तथीय० सू० भा० ३]

विद्यार विभूतिो ज्ञान ही अत्यक्ष है एवं इसके विना परोक्ष है ऐसा कहा है-बौद्ध, सांख्य आदि कित्ती
में भी परोक्ष प्रमाण नहीं माना है, किन्तु अनुमान, आत्म, यदमान आदि को प्रमाण मानते हैं संख्या के
प्रकरण में इस भाव को स्पष्ट किया है कि परोक्ष प्रमाण को माने बिना प्रमाणों की व्यवस्था पूरी नहीं
होती है । बौद्ध में अनुमान को मात्र विद्या, किन्तु स्मृति आत्म आदि को प्रमाण नहीं माना है । निष्कर्ष
यहो निकलता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आत्म में पाँच प्रमाण ही परोक्ष हैं । न्याय
ग्रन्थ में आचार्यों ने नतिज्ञान के अंतर्गत ‘स्मृति’—इन्द्रियमय भाव को सांख्यव्यहारिक अत्यक्ष बतलाकर
अप्य स्मृति आदि को परोक्ष कहा है, क्योंकि स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञान अदनी उत्पत्ति में ज्ञान-
धर की अवेक्षा रहते हैं । अज्ञान, ईहा, अमात्र और धारणा से भाव भी ज्ञानान्तर से व्यवहित न होने के
कारण सांख्यव्यहारिक अत्यक्ष ही हैं ।

परोक्ष के भेद-भेद पर विचार

बौद्ध—

त्रिरूप माने हेतु से होने वाले साध्य के भाव को अनुमान कहते हैं। अनुमान के दो भेद हैं—
स्वार्थ, परार्थ ।

वैशेषिक-वैयाचिक—

‘तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं, पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोद्भूतं च’ यह न्याय दर्शन का सूत्र है । अत्यक्ष-
पूर्वक अनुमान होता है उसके तीन भेद हैं पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोद्भूत ।

कोई इस प्रकार से व्याख्याय करते हैं कि अत्यक्षपूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है—केवल-
त्वमी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी । इनमें से केवलत्वमी को पूर्ववत् कहते हैं क्योंकि पूर्वअन्वय ।
जिस अनुमान में केवल अन्वय व्याप्ति मिलती है उसे केवलत्वमी-पूर्ववत् अनुमान कहते हैं । केवलव्य-
तिरेकी को शेषवत् एवं अन्वय व्यतिरेकी को सामान्यतोद्भूत अनुमान कहते हैं ।

उपमान—प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध की तिद्धि करना उपमान प्रमाण है । जैसे भी के
समान गवय होता है ।

मीमांसक—

मीमांसक ने चतुर्लक्षणलिङ्ग से उत्पन्न साध्य ज्ञान को अनुमान कहा है। नियत संबंध का एक देश देखना, संबंध नियम का स्मरण करना, अबाधक होना और अबाधित विषय वाला होना इत्यादि।
[प्रकरण पं० पृ० ६४, ७६]

‘ज्ञातसंबंधस्यैकदेशदर्शनादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्’ साध्य और साधन के अविनाभाव का यथार्थ परिज्ञान रखने वाले पुरुष को एक देश साधन के देखने से साध्य अर्थ का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है। ऐसे ही आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये सब परोक्ष प्रमाण हैं किन्तु इन सभी के यहां स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाण न होने से अनुमान आदि का लक्षण असंभव है। स्मृति और तर्क के बिना हेतु से साध्य का ज्ञान कैसे हो सकता है। किसी ने कभी अग्नि से धूम निकलता हुआ देखा है तभी तो वह केवल धूम देखकर पहले के संबंध का स्मरण करके तर्कज्ञान से धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव समझ कर धूमहेतु से अग्नि का अनुमान लगाता है।

अनुमान के अवयव

नैयायिक हेतु के पांच अवयव मानते हैं यथा—‘प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः’
[तर्कसंग्रह]

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। न्याय सूत्र के टीकाकार वात्स्यायन ने नैयायिकों की दश अवयव मान्यता का भी उल्लेख किया है—‘दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये संचक्षते जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं, संशयव्युदासः इति” [न्यायवात्स्या० भाष्य १-१-३२]

उपर्युक्त पांच में जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास मिला देने से दश अवयव हो जाते हैं।

बौद्ध—

बौद्धों ने अनुमान का हेतु रूप एक ही अवयव माना है। धर्मकीर्ति ने हेतु और दृष्टांत ऐसे दो अवयवों को स्वीकार किया है। दिग्नाग ने पक्ष हेतु और दृष्टांत ऐसे तीन अवयव भी मान लिये हैं। मुख्य रूप से बौद्ध के यहां केवल एक हेतु का प्रयोग ही आवश्यक माना गया है। उसका कहना है कि केवल हेतु के प्रयोग से ही गम्यमान पक्ष में साध्य का बोध हो जाता है। मीमांसक तीन अवयव मानते हैं—पक्ष, हेतु, दृष्टांत। कहीं पर चार भी मानते हैं। सांख्य भी तीन अवयव मानते हैं। मतलब यह है कि बौद्ध एक दो और तीन अवयव मानते हैं, नैयायिक पांच ही मानते हैं। मीमांसक चार और तीन मानते हैं एवं सांख्य तीन अवयव मानते हैं।

जैनाचार्यों ने मात्र ‘एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गोदाहरणम्’ [परीक्षामुख] इस सूत्र के अनुसार प्रतिज्ञा और हेतु ऐसे दो ही अवयव मानते हैं उनका कहना है कि दृष्टांत उपनय और निगमन इन तीनों की स्वीकारता शास्त्र में बालबुद्धि वालों को समझाने के लिये होती है किन्तु वाद काल में नहीं होती है वहां पर विद्वान् पुरुषों को दो ही अवयव प्रयुक्त करने चाहिये।

हेतु के लक्षण पर विचार

बौद्ध सांख्य और वैशेषिक हेतु का त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अधिकांशतः बौद्धों का ही प्रसिद्ध है फिर भी त्रैरूप्य की मान्यता सांख्य और वैशेषिकों की भी है। इनकी ये परंपरा बौद्धों से प्राचीन है दिग्नाग के पहले होने वाले प्रशस्तपाद ने अपने प्रशस्तपादभाष्य में [पृ० १०० में काश्यप और (कणाद) कथित] दो पक्षों को उद्धृत किया है जिनमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष-व्यावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। नैयायिक ने पाँच अवयव माने हैं यथा—“पक्षधर्मत्वम् सपक्षसत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति..... एतैः पञ्चभिर्लक्षणैरूपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति’

[न्याय. म. पृ. १०१]

इन तीन रूप और पाँच रूप की मान्यता अति प्रसिद्ध है, किंतु इनके अलावा भी हेतु के द्विलक्षण चतुर्लक्षण, और षड्लक्षण एवं एकलक्षण की मान्यताओं का उल्लेख तर्क ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें चतुर्लक्षण की मान्यता संभवतः मीमांसकों की मालूम होती है। जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् प्रभाकरानुयायी शालिकानाथ ने किया है।

इन सबका खंडन करते हुये जैनाचार्यों ने हेतु का एक ही लक्षण माना है। जिसका नाम है अन्यथानुपपत्ति अर्थात् साध्य साधन का अविनाभाव। इसका भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

हेत्वाभास पर विचार

नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं अतः उन्होंने एक-एक रूप के अभाव में पाँच हेत्वाभास माने हैं। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम। [न्यायक० पृ० १४]

वैशेषिक और बौद्ध हेतु के तीन रूप स्वीकार करते हैं इसलिये उन्होंने तीन हेत्वाभास माने हैं— असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक। सांख्य ने भी त्रैरूप्य हेतु के विपरीत ये ही तीन हेत्वाभास माने हैं। प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन सम्मत तीन हेत्वाभासों के अलावा एक चौथे हेत्वाभास की कल्पना भी की है जिसका नाम है अनध्यवसित [प्र. भा. पृ. ११६]

जैन विद्वान् हेतु का केवल एक ही अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं अतः उनका हेत्वाभास भी एक ही होना चाहिये। इस संबंध में सूक्ष्मप्रज्ञ श्री अकलंक देव ने बड़ी योग्यता से उत्तर दिया है ‘साधनं प्रकृता-भावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिंचित्करविस्तराः।’ [न्याय. वि. का. २६६]

वस्तुतः हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर अथवा असिद्ध। विरुद्ध, असिद्ध और संदिग्ध ये उसी के विस्तार हैं। चूंकि अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकार से होता है अतः हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी और अकिंचित्कर ये चार भेद भी माने गये हैं।

आगम प्रमाण का विचार

यद्यपि चार्वाक आगम प्रमाण नहीं मानता है फिर भी बृहस्पति गुरु को चार्वाक मत प्रवर्तक मानता है अतः उन बृहस्पति के द्वारा कहे गये वचन और तत्त्व ही आगम सिद्ध होते हैं अन्यथा वे अपने गुरु

कथित तत्त्वों का वर्णन या गुरु का नामोल्लेख भी कैसे कर सकेंगे ?

बौद्धों ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को ही प्रमाण माना है अतः ये लोग भी आगम को प्रमाण नहीं मानते हैं। फिर भी 'आगम आदि अप्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान में अंतर्भूत हैं क्योंकि वे अप्रत्यक्ष पदार्थ को विषय करने वाले प्रमाण हैं।' ऐसा कहा है [पद् दर्शन. पृ. ५७]

एवं बौद्धों ने त्रिपिटक ग्रन्थ को भी माना है। उनका कहना है कि 'महात्मा बुद्ध के वचनों का संकलन उनके निकटतम शिष्यों द्वारा त्रिपिटकों में ही हुआ है। उनके नाम—विनयपिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्मपिटक हैं। इनकी भाषा पालि है। इन ग्रन्थों में केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है।' अस्तु ! बुद्ध भगवान् वक्ता ही प्रमाण नहीं हैं तब उनके आगम भी प्रमाण कैसे होंगे ? बुद्ध की प्रमाणता—आप्तता का निराकरण आप्तसमीक्षा में किया जावेगा।

नैयायिक—

नैयायिकों ने कहा है कि 'शाब्दमाप्तोपदेशस्तु'... [षड्. पृ. १०६]

आप्त के उपदेश को आगम प्रमाण कहते हैं। 'जो एकांत से सदः सत्यवादी और हितकारी है वहीं आप्त है। आप्त के वचन को आप्तोपदेश कहते हैं।'

वैशेषिक ने प्रत्येक अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं अतः आगम को प्रमाण नहीं माना है किंतु आगम अवश्य माना है।

सांख्य ने आप्त और वेदों के वचनों को शाब्द—आगम प्रमाण कहा है। रागद्वेषादि से रहित वीतराग ब्रह्म, सनत्कुमार आदि आप्त हैं। और श्रुति—वेद इन्हीं के वचन आगम हैं। (षड्.)

मीमांसक 'शाब्दशाब्दवतवेदोत्थ'—नित्यवेद से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।

(षड्. पृ. ४४०)

वास्तव में इन नैयायिक वैशेषिक ने जो ईश्वर का लक्षण किया है उसका आप्त समीक्षा में विचार किया जावेगा। जब इनका मान्य आप्त ही सिद्ध नहीं है तब उनके वचन आगम कैसे हो सकेंगे ?

यही हाल सांख्यों का है उन्होंने भी कपिल को आप्त माना है, परंतु उनकी मान्यता ठीक नहीं है। अतः उनके आगम प्रमाण का लक्षण गलत सिद्ध होता है।

अपौरुषेय वेद का विचार

मीमांसक ने तो वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने में बड़ा पुरुषार्थ लगाया है। इनका कहना है कि 'वेद अपौरुषेय हैं इसलिये वे प्रमाण हैं, क्योंकि उनके कर्त्ता का स्मरण नहीं है, अतः वेद वाक्यों से ही धर्म-अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है।' जैनाचार्य उनसे ऐसा पूछते हैं कि भाई ! उन वेद वाक्यों का व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? यदि व्याख्याता रागी है तो विपरीत अर्थ भी कर देगा। यदि वीतरागी कहो तो आप सर्वज्ञ मानते नहीं। इत्यादि रूप से वेद प्रमाणीक नहीं हैं क्योंकि उनमें परस्पर विरोधी वचन पाये जाते हैं।

यद्यपि मीमांसकों ने वेद को अपौरुषेय कहा है फिर भी उन्हीं के यहां किन्हीं-किन्हीं ने वेद के कर्ता भी मान लिये हैं। काणाद-वैशेषिक लोग अष्टक ऋषि को वेद का कर्ता कहते हैं, पौराणिक लोग ब्रह्मा को एवं जैन कालासुर को वेद का कर्ता कहते हैं। यदि आप कहें कि वेद में विशेष शक्तिशाली मंत्रादि पाये जाते हैं अतः वेद प्रमाण हैं। इस पर भी हम जैनों का उत्तर है कि उन विशेष मंत्रों की उत्पत्ति हम जैनों के विद्यानुवाद पूर्व से हुई है। अनेकों रत्न राजा के भंडार में हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति समुद्र, खान आदि से हुई है न कि भंडार से। यदि अपौरुषेय होने से ही वेद प्रमाण हैं तो म्लेच्छों के यहां मानू-विवाह, मांसाहार आदि क्रियायें भी प्रमाण हो जावेंगी, क्योंकि उनका कर्ता कोई पुरुष भी स्मृति में नहीं है वे क्रियायें भी पुरुषकृत् प्रतीत न होने से अपौरुषेय ही हैं किंतु ऐसा है नहीं। अतः वेद प्रमाण नहीं हैं।

जैनों द्वारा मान्य आगम का लक्षण

‘आप्त के वचन आदि निमित्त से होने वाला अर्थ ज्ञान ही आगम है’। एवं सर्वज्ञ से ही आगम सिद्ध होता है और उसके अर्थ अनुसार अनुष्ठान करने से ही सर्वज्ञ बनते हैं। इस प्रकार बीजांकुर न्याय से सर्वज्ञ और आगम की सिद्धि होती है।

अभाव का विचार

मीमांसक ने स्वतंत्र एक अभाव प्रमाण माना है। इसलिये उनका कहना है कि—“अभावश्च प्रागभावादिभेदभिन्नोवस्तुरूपोऽभ्युपगन्तव्यः अन्यथा कारणादिव्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसंगात्”
[पदद० पृ० ४४६]

अभाव प्रमाण का विषयभूत अभाव पदार्थ वस्तुभूत है तथा वह चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। यदि ये चार अभाव न हों तो संसार में कारण, कार्य, घट, पट, जीव, अजीव आदि की प्रतिनियत व्यवस्था का लोप होकर समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जावेगा।

वैशेषिकों द्वारा मान्य सात पदार्थों में एक अभाव नाम का पदार्थ है उसके भी उन्होंने चार भेद किये हैं। यथा—‘अभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति’ ॥

[तर्क संग्रह]

अभाव के चार भेद हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

नैयायिक लोग अभाव के चार भेद करके भी उन्हें सर्वथा तुच्छाभाव रूप कहते हैं।

सांख्य इन अभावों को सर्वथा भावरूप ही सिद्ध करते हैं।

— किंतु जैनाचार्यों ने इन भावैकांतवादी सांख्य का खंडन करके एवं नैयायिक के तुच्छाभाव का भी निषेध करके चारों अभावों को भावांतर रूप स्वीकार किया है। अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

कारण में कार्य का न होना प्रागभाव है जैसे—मिट्टी में घट नहीं है, उस प्रागभाव का अभाव होने के बाद घट बनता है ।

कार्य का विनाश न होना प्रध्वंसाभाव है जैसे—घट में प्रध्वंसाभाव है उसका अभाव न होवे तो घट अनन्त काल तक बना रहेगा, किंतु उसका अभाव-प्रध्वंस होकर घट से कपाल आदि बन जाते हैं ।

एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अभाव अन्योन्याभाव है जैसे घटपर्याय में पट आदि पर्याय नहीं हैं । यदि इसको न मानो तो सभी पर्याय एकमेक हो जावेंगी—सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जावेंगे ।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव होना अत्यंताभाव है जैसे—जीवद्रव्य में अजीव पुद्गल आदि द्रव्यों का अभाव है इसको न माने तो भी सभी वस्तुयें अपने स्वभाव से रहित सर्वात्मकया निःस्वरूप हो जावेंगी ।

इन चारों ही अभावों का वर्णन अष्टसहस्री में कारिका ६-१०-११ में बहुत ही विस्तृत रूप से किया गया है ।

इन अभावों को ग्रहण करने के लिये अभाव नामक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये प्रत्यक्ष आदि से ही जाने जाते हैं । अतः मीमांसकों द्वारा मान्य अभाव प्रमाण व्यर्थ है ।

इस प्रकार से 'प्रमाण समीक्षा' प्रकरण समाप्त हुआ ।

प्रमेयसमीक्षा

प्रमाणेन ज्ञानेन प्रमीयते ज्ञायते यत् वस्तुतत्त्वं तत् सर्वं प्रमेयं ज्ञेयमित्यर्थः ।

प्रमाण—ज्ञान के द्वारा जो वस्तु तत्त्व जाना जाता है वह सभी तत्त्व प्रमेय-ज्ञेय कहलाता है । अर्थात् ज्ञान से जाने गये सभी पदार्थ ज्ञेय कहलाते हैं और ज्ञान को ही प्रमाण माना है अतः प्रमाण से जाने गये सभी पदार्थ 'प्रमेय' कोटि में आ जाते हैं । संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो ज्ञान का विषय न हो, चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो या परोक्ष ज्ञान का विषय हो किन्तु सभी चेतन-अचेतन पदार्थ ज्ञान के विषय अवश्य हैं जो ज्ञान के विषय नहीं हैं वे पदार्थ ही नहीं है वे तो आकाशकमलवत् असत् ही हैं । अतः प्रमेय शब्द से सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थ आ जाते हैं । यहां तक कि प्रमाण भी कथंचित् प्रमेय है जैन दर्शन में ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है अतः ज्ञान जानने वाला होने से ज्ञान है एवं स्वयं के द्वारा स्वयं जाना जाता है अतः ज्ञेय भी है । यथा—'ज्ञानपदेन प्रमातुः प्रमितेश्च व्यावृत्तिः । ननु ज्ञानपदेन यथा प्रमातुः प्रमितेश्च व्यावृत्तिः कृता तथा प्रमेयस्य कथं न कृता तस्यापि ज्ञानत्वाभावात् इति चेत्तस्यापि चशब्दात् ग्रहणं बोध्यं । यद्यपि स्वपरिच्छेद्यापेक्षया ज्ञानस्य प्रमेयत्वमस्त्येव तथापि घटपटादिबहिरर्थापेक्षया नास्तीत्यतो युक्तं च शब्दात्तस्य ग्रहणं ।' [न्याय दी० टि० पृ० १०]

आचार्य कहते हैं कि 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' सूत्र में ज्ञान शब्द से प्रमाता-आत्मा और प्रमिति-ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है, इस पर शंकाकार कहता है कि जैसे ज्ञानपद से प्रमाता और प्रमिति का निराकरण किया है वैसे ही प्रमेय का निराकरण क्यों नहीं किया, क्योंकि प्रमेय भी ज्ञानरूप नहीं है । इस पर

वेदाचार्य कह रहे हैं कि व शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हुआ सम्भवना चाहिये। यद्यपि 'व' को जानने की अपेक्षा से ज्ञान 'प्रमेय' ही है फिर भी वट वट आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से प्रमेय नहीं भी है अतः व शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हो जाता है। जहाँ इस बात को समझ लेना चाहिये कि वे प्रमाणा, प्रमिति और प्रमेय तीनों ही यद्यपि ज्ञान नहीं है फिर भी इनमें सम्बन्धना सिद्ध है। इसलिये सन्धे ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ सन्धे अवे-प्रमेय कहलाते हैं। वे ही अवेभूत जीवादिपदार्थ इन्द्र, तत्त्व आदि सम्बन्ध के विषयभूत हैं।

इसलिये यद्यपि 'प्रमेय' शब्द से प्रमाण को भी लिया जा सकता है फिर भी इस ग्रन्थ में प्रमाण की समीक्षा करने के बाद प्रमेय की समीक्षा की गई है क्योंकि न्याय शास्त्रों में प्रमाण का विषय ही मुख्यतया प्रतिपाद्य है, और वे न्याय शास्त्र प्रमाण शास्त्र भी कहलाते हैं।

इस प्रमेय समीक्षा में सबसे प्रथम 'दर्शन' शब्द का निरुक्ति अर्थ करते हुये सभी दर्शनों की संक्षिप्त समीक्षा की जाती है।

दर्शन शब्द का महत्त्व और आधार

'दृश्यते निर्णोपते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्' अथवा 'दृश्यते निर्णोपते इदं वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्' व्याकरण शास्त्र की इन दोनों व्युत्पत्तियों के अनुसार दृश् धातु से दर्शन शब्द बना है। जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाय निर्णोत किया जाय, वह दर्शन है, या दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर दर्शन शब्द का अर्थ उल्लिखित विचारधारा के द्वारा निर्णोत तत्त्वों की स्वीकारता होता है। एवं पहली व्युत्पत्ति के आधार पर दर्शन शब्द तर्क-वितर्क, मन्थन या परोक्षास्वरूप उस विचार धारा का नाम है जो तत्त्वों के निर्णय में प्रयोजक हुआ करती है। जैसे—यह संसार नित्य है या अनित्य? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं? आत्मा का स्वरूप क्या है? इसका पुनर्जन्म होता है या नहीं? ईश्वर की सत्ता है या नहीं? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन शास्त्र का काम है।

'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से हुई है—शास्-आज्ञा करना, तथा शस्-वर्णन करना। "शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते" प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार शासन अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्म शास्त्र के लिये किया जाता है। शासक शास्त्र-बोधक शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया जाय। धर्मशास्त्र कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रतिपादन करने के कारण पुरुष परतन्त्र है। किन्तु दर्शन शास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से वस्तु परतन्त्र है।

दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया गया है—

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन। भारतीय दर्शन में भी वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन से दो भेद हो गये हैं।

वैदिकदर्शन में—मुख्यतः सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग न्याय तथा वैशेषिक दर्शन लिये जाते हैं।

अवैदिक दर्शन में—जैन, बौद्ध और चार्वाक माने जाते हैं। वेद परम्परा के पोषक वैदिक एवं वैदिक परंपरा से भिन्न दर्शनों को अवैदिक दर्शन कहते हैं।

व्याख्यान वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त इन छह दर्शनों को आस्तिक एवं जैन, चार्वाक तथा बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कहा जाता है। यहां वेदों को मानने वालों को आस्तिक एवं वेदों को न मानने वालों को नास्तिक कहा है किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रायः प्राणियों को जन्मान्तर रूप परलोक स्वर्ग, नरक तथा मुक्ति को न मानने वालों को नास्तिक कहा जाता है, इससे जैन और बौद्ध दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक न होकर आस्तिक हो जाते क्योंकि हैं ये दोनों दर्शन परलोक, स्वर्ग आदि को स्वीकार करते हैं। यदि जगत् के कर्ता अनादि निधन ईश्वर को मानने में आस्तिकता है, तब तो सांख्य मीमांसक भी ईश्वर की सृष्टि का कर्ता न मानने से नास्तिक बन जावेंगे क्योंकि ये दोनों ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जैन नास्तिक नहीं हैं परलोक स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि मानते हैं ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मान कर भी निरीश्वरादि नहीं है क्योंकि अनन्त ईश्वरों-सर्वज्ञों को स्वीकार करते हैं।

अब यहां भारतीय दर्शनों की संक्षिप्त मान्यता दिखाकर उनकी समीक्षा करना है। इनमें सबसे पहले चार्वाक दर्शन को स्पष्ट करेंगे।

चार्वाक मत

चार्वाक—ननु अनाद्यनंतरूप इति विशेषणमात्मनः कथं योयुज्यते । कायाकारपरिणतियोग्येभ्यो भूतेभ्येचैतन्यं जायते । जलबुदबुदवदनित्या जीवा इत्यभिधानात् । न केषामपि मते जीवस्यानानन्दनन्त-त्वग्राहकं प्रमाणं जाघटयते । [विश्व त. प्र. १]

आत्मा का अनादि अनन्त विशेषण कैसे बन सकता है? शरीर के आकार को प्राप्त हुये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूत चतुष्टयों से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। जीव पानी के बुदबुद के समान अनित्य है। जीव को अनादि अनन्त कहने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से केवल वर्तमान काल से संबद्ध पदार्थों का ही ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण जीव को अनादि अनन्त सिद्ध नहीं कर सकता। जन्म समय के पहले माता-पिता का चैतन्य होता ही है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः उससे भिन्न अन्य चैतन्य की कल्पना करना व्यर्थ है। इत्यादि

ये चार्वाक काम और अर्थ इन दो ही पुरुषार्थों को मानते हैं एवं स्वर्गादि पारलौकिक सुख का निराकरण कर देते हैं अतएव चार्वाक का 'लोकायत' यह दूसरा नाम अन्वर्थ है क्योंकि ये लोक प्रसिद्ध के अतिरिक्त अन्य कुछ भी पदार्थ नहीं मानते हैं।

“अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवाय्वनिलानिलाः ।
 चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
 किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
 अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥१॥
 देहः स्थौल्यादियोगाच्च सः एवात्मा न चापरः ।
 मम देहोयमित्युक्तिः संभवेदोपचारिकी ॥२॥

[सर्वद. पृ. ५]

अर्थ—चार्वाक के यहां पृथ्वी, जल, अग्नि वायु ये चार तत्त्व हैं। किण्वादिमादक द्रव्य के समुदाय से उत्पन्न मदशक्ति के समान इन्हीं तत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। मैं 'स्थूल हूं, कृश हूं, इत्यादि से देह और जीव में समान अधिकरण होने से शरीर ही आत्मा है 'मेरा देह' इत्यादि व्यवहार उपचार मात्र से होता है। संक्षेपतः इस मत का सिद्धान्त है कि कण्टक आदि से उत्पन्न हुआ दुःख ही नरक है, लोक प्रसिद्ध राजा ही ईश्वर है, मरण ही मुक्ति है।

ये चार्वाक जड़वादी हैं, इनके यहां प्रत्यक्ष एक ही मात्र प्रमाण है, अनुमान शब्द आदि जितने अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं वे सभी भ्रममूलक हैं। अतः प्रत्यक्ष से ज्ञात वस्तुओं के अतिरिक्त किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नहीं माना जा सकता है। यह जड़ जगत् चार भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है इन पृथ्वी आदि तत्त्वों का ज्ञान हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है।

‘एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में नये-नये गुणों की उत्पत्ति हो सकती है। यद्यपि लाल रंग न तो पान में है, न सुपारी में, न चूने में है, फिर भी उनको एक साथ चबाने से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। गुड़ में मादक गुण नहीं है फिर भी सड़ जाने से उसमें मादकता आ जाती है। इसी तरह भौतिक तत्त्वों का जब विशेष ढंग से मिश्रण होता है तब जीव और शरीर का निर्वाण होता है, और उसमें चैतन्य का संचार हो जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है, अतः मृत्यु के बाद कर्मों के फल भोग की कोई सम्भावना नहीं है’ ।

[भारतीयद. पृ. १६]

‘चारु-सुन्दर वाक्—बातों को अर्थात् लोगों को प्रिय लगने वाली बातों को कहने के कारण, अथवा आत्मा, परलोक आदि को चर्वण-भक्षण कर जाने के कारण इनका 'चार्वाक' नाम सार्थक है। चार्वाक दर्शन के संस्थापक बृहस्पति गुरु हैं अतः इस दर्शन का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है।

चार्वाक का इष्ट कथन—

“यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः ।
 भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥”

[सर्व दर्शन संग्रह]

मृत्यु से कोई नहीं बच सकते अतः जब तक जीवो सुख से जीवो, भस्मीभूत हुये शरीर की पुनः उत्पत्ति कैसे हो सकती है ।

विचित्रता यह है कि यह चार्वाक जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मानकर आत्मा, ईश्वर और परलोक सबको समाप्त कर देता है ।

उपसंहार—चार्वाक आत्मा को अनादि अनन्त एवं अजीव से भिन्न जीव नाम का द्रव्य नहीं मानते हैं किन्तु वास्तव में जाति स्मरण, संस्कार व्यंतर आदि के निमित्तों से पुनर्जन्म सिद्ध है । ये एक प्रत्यक्ष ही मानते हैं किन्तु अनुमान के बिना परलोकादि का निषेध और पर में ज्ञान आदि के अस्तित्व को कहना भी असंभव है । ये जड़ पृथ्वी आदि से चैतन्य की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं यह तो सर्वथा असंभव है । पूर्वजन्म के मनुष्य गति आयु आदि कर्म के निमित्त से जीव माता पिता आदि निमित्तों से जन्म लेता है । अचेतन चेतन की उत्पत्ति मानना सर्वथा गलत है अतः शुभ कार्यों से अपनी आत्मा को नरकादि से बचाकर सुखी बनाने का प्रयत्न करो ।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है 'सर्व क्षणिकं सत्त्वात्' सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सत् रूप हैं।

“बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम् ।

आर्यसत्त्वाख्यया तवचतुष्टयमिदं क्रमात् ॥

दुःखमायतन चैव ततः समुदयो मतः ।

मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः ॥

दुःखं संसारिणः स्कंधास्ते च पंच प्रकीर्तिताः ।

विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्काररूपमेव च ॥

पंचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पंच मानसम् ।

धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु ॥” [सर्वद० पृ० ४६]

अर्थ—बौद्धों के भगवान् बुद्ध हैं । संसार क्षणिक है । दुःख समुदय, तन्निरोध और मार्ग ये सूत्रोक्त चार ही तत्त्व हैं । विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ये पांच स्कंध सांसारिक दुःख हैं । शब्द, स्पर्श रूप, रस, और गंध ये पांच विषय हैं । ये पांच विषय, पांचज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि ये द्वादश-आयतन हैं । इत्यादि ।

“माध्यमिक योगाचार सौत्रान्तिकवैभाषिक संज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धाः यथाक्रमं सर्वशून्यत्वबाह्य-
शून्यत्वबाह्यार्थानुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते ।”

[सर्वद० पृ० १६]

माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के भेद से बौद्धों के चार भेद हैं । माध्यमिक बाह्य अभ्यन्तर समस्त वस्तु को शून्य मानते हैं । योगाचार बाह्य वस्तु का अभाव मानते हैं । सौत्रान्तिक बाह्य वस्तु को अनुमान ज्ञान का विषय मानते हैं । एवं वैभाषिक लोग बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष कहते हैं ।

“दुःखसमुदयनिरोधमार्गणा इति चत्वारः पदार्था एव मुमुक्षुभिर्ज्ञातिव्याः” ।

[विश्वत० प्र० पृ० ३०२]

बौद्धों का कथन है कि दुःख, समुदय, निरोध तथा मार्ग ये चार (आर्य सत्य) पदार्थ ही मोक्ष के लिये जानने योग्य हैं। शारीरिक, मानसिक, आगंतुक और सहज से उत्पन्न हुये 'दुःख' कहलाते हैं। इन दुःखों के उत्पादक तथा कर्मबंध के कारण दो हैं अविद्या, तृष्णा, इन्हें ही 'समुदय' कहा है। अविद्या और तृष्णा के नाश से निरास्रव चित्त उत्पन्न होना, या चित्त के संतान का उच्छेद होना 'निरोध' है इसे ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष मार्ग के आठ अंग हैं। सम्यक्त्व आदि जिनके नाम हैं।

चार आर्य सत्य - (१) सांसारिक जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। (२) दुःखों का कारण है। (३) दुःखों का अन्तसम्भव है। (४) दुःखों के अन्त का उपाय है। इन्हें क्रमशः दुःख, दुःखसमुदय, दुःख-निरोध तथा दुःखनिरोध मार्ग कहते हैं। [भारतीय द० पृ० ७७]

बौद्धों के यहां 'त्रिपिटक' ग्रन्थ हैं—

त्रिपिटकों के अन्तर्गत विनयपिटक, सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक हैं। प्रत्येक पिटक में अनेक ग्रंथ हैं इसलिये 'पिटक' (पेटी) नाम पड़ा। विनयपिटक में संघ के नियमों का, सुत्त-पिटक में बुद्ध के वार्तालाप और उपदेशों का, तथा अभिधम्म पिटक में दार्शनिक विचारों का संग्रह हुआ है। इन पिटकों में केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है। इनकी भाषा पालि है। [भारतीय द० पृ० ७५]

बौद्धों के कुछ प्रमुख सिद्धान्त ये हैं—अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभंगवाद, विज्ञानवाद, शून्य-वाद, अन्यापोह आदि। बौद्ध दर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कंधों के समुदाय को ही आत्मा माना गया है।

बौद्धों के प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये स्मृति, तर्क आदि को प्रमाण नहीं मानते हैं।

प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, और योगि प्रत्यक्ष।

स्पर्शन आदि पांच इंद्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष है।

मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान मानस प्रत्यक्ष है।

सब चित्त और चैत्यों का जो आत्म संवेदन है वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। [न्यायबिन्दु]

दुःख, समुदय आदि चार आर्य सत्यों की भावना करते-करते एक समय ऐसा आता है जब भावना अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाती है और तब भाव्यमान अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान उत्पन्न होता है, यही योगि प्रत्यक्ष है।

इनके यहां ये चारों प्रत्यक्ष निर्विकल्प (अनिश्चायक) हैं यह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षणिक स्वलक्षण मात्र को (एक समय की पर्याय को) ही जानता है।

अनुमान प्रमाण भ्रान्त है क्योंकि वह सामान्य पदार्थ को विषय करता है।

अनुमान का लक्षण

पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूप वाले विंग-हेतु से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है। वह अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ।

हेतु के तीन भेद हैं—अनुपलब्धि हेतु, स्वभाव हेतु और कार्यहेतु।

अनुपलब्धि के ४ भेद हैं—विरुद्धोपलब्धि, विरुद्धकार्योपलब्धि, कारणानुपलब्धि और स्वभावानुपलब्धि।

विरुद्धोपलब्धि—यहां शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्श की विरोधी अग्नि मौजूद है।

विरुद्धकार्योपलब्धि—यहां शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्श के विरोधी अग्नि का कार्य धूम उपलब्ध हो रहा है।

कारणानुपलब्धि—यहां धूम नहीं है, क्योंकि यहां धूम का कारण अग्नि नहीं पाई जाती।

स्वभावानुपलब्धि—यहां धूम नहीं है क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। अन्यत्र अनुपलब्धि के सात भेद भी माने हैं।

स्वभावहेतु—‘यह वृक्ष है, क्योंकि शिखापा है।’

कार्यहेतु—‘यहां अग्नि है, क्योंकि धूम का सद्भाव है।’ [पट्टदशमं पृ० ६७]

सौत्रान्तिक और वैभाषिकों के अनुसार अर्थ दो प्रकार का है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमें से स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है। प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं। एक असाधारण, दूसरा साधारण। ‘स्वमसाधारणलक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणं’।

[न्यायविन्दु]

वस्तु का जो असाधारण तत्त्व है वही स्वलक्षण है इसे ही विशेष कहते हैं। ‘अन्यत् सामान्यलक्षणं’ जो स्वलक्षण से भिन्न है वह सामान्य लक्षण है।

[न्यायविन्दु]

प्रत्येक गो में गो स्वलक्षण है, और अनेक गायों में जो गोत्व रूप एक सामान्य की प्रतीति होती है वह सामान्य लक्षण है।

बौद्धों के यहां विनाश को पदार्थ का स्वभाव माना गया है, वे कहते हैं कि मुद्गर की चोट से घट फूटा तो घट के विनाश में मुद्गर कारण नहीं है विनाश स्वयं स्वभाव से हुआ है। हां! कपाल की उत्पत्ति में मुद्गर कारण अवश्य है।

इनकी एक मान्यता और भी बड़ी विचित्र है कि शब्द अपने अर्थ को न कहकर ‘अन्यापोह’ को कहते हैं जैसे—आपने ‘गो’ शब्द कहा, तो इसका अर्थ होता है अश्व का अभाव, ऊंट का अभाव इत्यादि गो से भिन्न पदार्थों का अभाव ही अर्थ होता है, न कि गो शब्द का अर्थ गाय वाचक कोई पशु। ऐसे ही ये बौद्ध पदार्थों से ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसका आकार धारण करता है और उसे ही जानता है।

उनके यहाँ एक 'संवृति सत्य' भी भजेदार है जो कि हर एक बातों को कल्पित कह देता है।

माध्यमिक लोग बाह्य और अभ्यन्तर चेतन-अचेतन सभी को अभाव कहकर जगत् को दून्य रूप सिद्ध करते हैं इसलिये ये शून्याद्वैतवादी हैं।

योगाचार—विज्ञान को ही तत्त्व मानते हैं अन्य कुछ भी बाह्य पदार्थ नहीं मानते हैं। अतः ये विज्ञानाद्वैतवादी हैं। ये दोनों ही अनेकों पदार्थों के सद्भाव को संवृति-कल्पना रूप कहते हैं।

अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में स्थल-स्थल पर इन बौद्धोंकी मान्यताओं का निराकरण किया गया है।

उपसंहार—बौद्धों ने सभी पदार्थों को क्षणिक कहा है, यह कथन असंभव है। हाँ पदार्थों की अर्थ पर्याय प्रतिक्षण नष्ट होती है, किन्तु व्यंजन पर्याय बहुत काल तक भी स्थाई रहती है। देखो सुमेरु पर्वत आदि अनादि निधन हैं, उनमें अर्थपर्याय का परिणमन प्रतिसमय चल रहा है, किन्तु व्यंजनपर्याय और ध्रौव्य की अपेक्षा हम उसे नित्य कहते हैं। ऐसे ही आत्मा आदि कथंचित् द्रव्यदृष्टि से नित्य है। इन्होंने विज्ञान आदि स्कंधों को सांसारिक दुःखरूप सिद्ध किया है, परन्तु विज्ञान कभी दुःखरूप नहीं होता कुज्ञान अवश्य दुःखरूप है। कोई विज्ञानाद्वैतवादी लोग सर्वथा ज्ञान मात्र ही जगत् सिद्ध करते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष में ज्ञान और जड़रूप दो तत्त्वगोचर हो रहे हैं। स्मृति आदि को प्रमाण माने बिना भी प्रातः धर से निकलकर वापस वहीं आना अशक्य होगा। हेतु के तीन रूप का भी पहले खण्डन किया गया है। इनके यहाँ शब्द का अन्यापोह अर्थ तो बहुत ही हास्यास्पद है।

विनाश को अहेतुक कहना भी प्रत्यक्ष बाधित है एवं वस्तु के स्वलक्षण को इन्द्रिय प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं कर सकता है। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय भी व्यंजन पर्याय ही है। सिर्फ दो प्रमाण से एवं प्रागम प्रमाण अप्रमाणिक होने से बौद्धों का क्षणिक सिद्धांत भी किस पर निर्भर रहेगा। अतः कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य रूप अनेकान्त शासन ही जयशील होता है।

सांख्य मत

सांख्या निरीश्वराः केचित् केचित् ईश्वरदेवताः ।

सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ॥ [षड् द० पू० १४२]

कुछ सांख्य ईश्वर को नहीं मानकर केवल अध्यात्मवादी हैं। कुछ सांख्य ईश्वर को ही देवता मानते हैं। सभी सेइवर तथा निरीश्वर सांख्य साधारण रूप पञ्चीस तत्त्वों को स्वीकार करते हैं।

सांख्य के मत में सत्त्व रज और तम ये तीन गुण हैं। प्रसाद, ताप तथा दीनता आदि कार्यों से क्रमशः उनका अनुमान होता है। एक दूसरे का उपकार करने वाले परस्पर सापेक्ष इन सत्त्वादि तीन गुणों से समस्त जगत् व्याप्त है। इन सत्त्वादि गुणों की समस्थिति ही प्रकृति कही जाती है। प्रकृति और आत्मा के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है।

“संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रस्य चतस्रो विधाः संभाव्यन्ते । कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव कश्चिद् विकृतिरेव, कश्चित् विकृतिः प्रकृतिश्च, कश्चिदनुभय इति” [सं० द० पू० २५६]

संक्षेप से सांख्यशास्त्र में पदार्थ के चार क्रम हैं। कोई पदार्थ केवल प्रकृति ही है, कोई केवल विकृति रूप है, कोई प्रकृति विकृति रूप एवं कोई प्रकृति विकृति से भिन्न अनुभय रूप है।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ [सांख्य का० ३]

अर्थ—इनमें प्रकृति किसी का विकार-कार्य नहीं है अतः मूल प्रकृति विकृति रहित है। महान् अहंकार और पांच तन्मात्रायें ये सात प्रकृति और विकृति दोनों रूप हैं—अर्थात् कारण-कार्य रूप हैं। षोडश-गणमात्र विकृति रूप ही हैं क्योंकि वे कार्य हैं। पुरुष तो न किसी को उत्पन्न करता है, न किसी से उत्पन्न होता है अतः कारण कार्य रूप न होने से प्रकृति विकृति से रहित है।

सांख्य के २५ तत्त्व

प्रकृति से महान् (बुद्धि) उत्पन्न होती है, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सोलहगण उत्पन्न होते हैं। षोडशगण—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच बुद्धीन्द्रियाँ, पायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद ये पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ तथा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्रायें मिलकर सोलह गण कहलाते हैं। पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों की उत्पत्ति होती है, यथा—रूप से अग्नि, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, शब्द से आकाश और स्पर्श से वायु उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार से सांख्य मत में प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वरूप में परिणत होने वाला प्रधान तत्त्व है। स्वयं प्रकृति, महान्, अहंकार ये तीन, सोलह गण, और पांच भूत मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। इनसे भिन्न पञ्चीसवां पुरुषतत्त्व है जो अकर्ता, निर्गुण, भोक्ता, नित्य और चैतन्य स्वरूप है।

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।

अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने ॥

अर्थ—आत्मा अमूर्त, चेतना, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है ऐसा सांख्यमत में कहा है।

सांख्य के यहां मोक्ष—प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है, वह प्रकृति तथा पुरुष में विज्ञान रूप तत्त्वज्ञान से होता है।

सांख्यमत में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं।

सांख्य के प्रमाण का लक्षण—

“अर्थोपलब्धिहेतुः प्रामाण्यं” अर्थोपलब्धि में जो साधकतम कारण है वह प्रमाण है। उसमें निर्विकल्प श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट के भेद से अनुमान के तीन भेद हैं।

आप्त और वेदों के वचन आगम प्रमाण हैं इनके यहां ‘पतञ्जलि’ से श्वरसांख्य शास्त्र के प्रवर्तक माने गये हैं। इनके यहां छब्बीसवां तत्त्व ‘ईश्वर’ है।

“प्रकृति इस संसार का आदि कारण है, यह एक नित्य तथा जड़ वस्तु है, सर्वदा परिवर्तनशील है। तत्त्व, रज, तम ये प्रकृति के तीन गुण या उपादान हैं, सृष्टि के पहले ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं, ये संसार के विषय सुख, दुःख या मोहजनक हैं, सुख दुःख या विषाद होने के कारण हम इन तीन गुणों का अनुमान करते हैं……पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। पुरुष न तो किसी का कारण है न कार्य है, वह निरपेक्ष तथा नित्य है।” [भारतीय द० पृ० २७]

इनके यहां चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। शेष्वर सांख्य ने ईश्वर की सत्ता मानकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-योगसे आठ अंगों का प्रतिपादन किया है।

इनके यहां प्रधान के दो भेद हैं—अव्यक्त और व्यक्त अव्यक्त। प्रधान कारण है और व्यक्त प्रधान कार्य है। इनमें व्यक्त प्रधान हेतुमान्, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, अश्रित, लिंग, सावयव और परतन्त्र है। लेकिन अव्यक्त इनसे विपरीत अहेतुमान् एक इत्यादि रूप है। ये दोनों ही प्रधान त्रिगुणात्मक हैं—सत्त्व, रज, तम, रूप हैं। अविवेकी, विषय सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी हैं। परन्तु पुरुष में त्रिगुण आदि नहीं हैं। प्रधान से उत्पन्न हुआ सारा जगत् प्रधान रूप है।

सांख्य किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश नहीं मानते हैं। किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं, ये कूटस्थ, अपरिणामी नित्य एकांत को स्वीकार करते हैं।

इनके यहां सत्कार्यवाद की मान्यता बड़ी ही विचित्र है। इनका कहना है कि कारण में कार्य सदैव विद्यमान रहता है कारणों से उत्पन्न नहीं होता है। कार्य कारणों से अभिव्यक्त—प्रगट होता है। मिट्टी में घट विद्यमान है कुंभार, दण्ड, चक्र आदि निमित्तों से प्रगट हो गया है आदि। नित्यैकांत की ये सब बातें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं।

सांख्यों के यहां ज्ञान पुरुष का गुण न होकर अचेतन प्रकृति का परिणाम है। मोक्ष में प्रकृति का संयोग समाप्त होते ही ज्ञान का भी अभाव हो जाता है।

उपसंहार—सांख्य ने अचेतन को सृष्टि कर्त्री माना है यह सर्वथा असम्भव है। आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने से उसमें रागादि परिणाम न होने पर जड़कर्मों का बंध असम्भव है एवं ज्ञान और सुख आत्मा के स्वभाव हैं न कि जड़प्रकृति के। इसलिये सांख्य के २५ तत्त्वों की मान्यता बिल्कुल असंगत है। आत्मा को निर्गुण, निष्क्रिय, अकर्ता मानना नितांत भूल है। प्रकृति के अपराध से आत्मा संसार में दुःख उठावे यह बात तो स्वयं उनके कूटस्थ नित्य मत का निराकरण कर देती है। इनके द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व का भी कथन विरुद्ध है क्योंकि ये ज्ञानमात्र से मोक्ष मानते हैं क्या आज तक कोई औषधि के जानने मात्र से स्वस्थ हुये हैं। इनका सत्कार्यवाद भी बड़ा विचित्र है मिट्टी में सदा घट को विद्यमान कहना और कुंभार आदि से उसकी प्रकटता मानना बिल्कुल गलत है। हां ! शक्तिरूप से मिट्टी में घट को हम जैन भी मान लेते हैं। जैसे कि संसारी आत्मा में परमात्मा शक्ति रूप से है। इनके प्रमाण और प्रमेय दोनों की व्यवस्था भी अघटित है। ये सर्वथा नित्य एकांतवादी हैं यदि कथंचित् आत्मा को कर्ता, भोक्ता मान लें तो बहुत ही अच्छा हो जावे। तब तो स्याद्वाद शासन ही उन्हें श्रेयस्कर हो जावे।

नैयायिक दर्शन

नैयायिक मत के प्रस्थापक गौतम मुनि हैं। इस न्याय दर्शन का दूसरा नाम अक्षपाद दर्शन है।

“प्रमाणप्रमेयेत्यादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः” यह न्याय शास्त्र का प्रथम सूत्र है। प्रमाण प्रमेय इत्यादि तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

“तच्चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्। प्रमेयं द्वादशप्रकारं, आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः-प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदात्” । [सर्व दर्शन सं० पृ० २०१]

प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

प्रमेय के बारह भेद हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

नैयायिक के मत में सोलह तत्त्व हैं—१ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति, १६ निग्रहस्थान। इन्हें पदार्थ भी कहते हैं। [षट्दर्शन पृ० ८२]

प्रमाण के १६ भेद, प्रमेय के १२, संशय के ३, प्रयोजन के २, दृष्टान्त के २, सिद्धान्त के ४, अवयव के ५, तर्क के ११, निर्णय के ४, वाद का १, जल्प का १, वितण्डा का १, हेत्वाभास के ५, छल के ३, जाति के २४, एवं निग्रह स्थान के २२ भेद हैं। इनके नाम और लक्षण सर्वदर्शन संग्रह और षट्दर्शन समुच्चय ग्रन्थों से देखना चाहिये। [सर्व द० पृ० २०१ से २०४]

अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृत् शिवः।

विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः ॥१३॥ [पङ् ६० पृ० ७८]

नैयायिक मत में जगत् की सृष्टि तथा संहार को करने वाला, व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ, नित्य ज्ञानशाली, शिव देवता हैं।

अक्षपाद नाम के आदिगुरु ने नैयायिक मत के मूल सूत्रों की रचना की है इसलिये नैयायिक अक्षपाद कहलाते हैं।

नैयायिक ने अनुमान के पांच अवयव माने हैं, प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन। हेतु के पांच अवयव माने हैं—पक्षधर्मत्व आदि।

अनुमान के तीन भेद माने हैं—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी।

इनके यहां—“जिसके द्वारा प्रमिति-उपलब्धि या ज्ञान उत्पन्न किया जाता है उस ज्ञान के जनक कारण को 'प्रमाण' कहते हैं। एवं अक्षपाद ने स्वयं न्यायसूत्र में कहा है कि—“इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाला अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' है।”

वैशेषिक दर्शन

न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों का 'यौग' नाम से उल्लेख किया गया है। कुछ बातों को

होकर स्वयं श्रीर वैशेषिक में समावृत्ता पाई जाती है । शिवाचित्त (१२ शताब्दी) के 'अष्टाध्यायी' में ब्रह्म शब्दों का समन्वय किया गया है । मालूम पड़ता है कि ब्राह्मणों के भीम-श्रीही को 'भीम' नाम से किया गया है । स्वयं सूत्र के रचयिता भीतम ज्ञापि है । जैसा कि ऊपर कहे जा चुके हैं । वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि 'कणाद' हैं । विशेष सामक पदार्थ की विशिष्ट प्रकृति से इस दर्शन का वैशेषिक नाम हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है । वैशेषिक ने सात पदार्थ माने हैं—'द्रव्यसुप्तकर्मसामान्यनिक्षेपसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः' ।

द्रव्य, सुप्त, कर्म, सामान्य, निक्षेप, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं ।

इनमें से द्रव्य के नव भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, विद्या, आत्मा और मन ।

सुप्त चौबीस हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पुण्यकर्म, संयोग, विभाग, परस्व,

अपरस्व, सुस्व, प्रवृत्त, रसैत, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, प्रच्छा, त्रैप, प्रमत्त, धर्म, अधर्म और संस्कार ।

कर्म के पांच भेद हैं—उत्सर्ग, अवसर्ग, आनुसृज्य, प्रसारण और समन ।

सामान्य के दो भेद हैं—परसामान्य, अपरसामान्य । निक्षेप केवल मित्य वर्णों में रहता है और वह अनंत है ।

पूर्वोक्त नव द्रव्य और परमाणु मित्य द्रव्य हैं ।

'समवायस्त्वेक एव' समवाय एक ही है ।

अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, पश्चात्साभाव, अत्योग्याभाव, और अत्यन्ताभाव । [तर्क सं०]

आत्म द्रव्य का लक्षण और भेद—

'ज्ञानाधिकरणमात्मा' सा त्रिविधा—जीवात्मा परमात्मा चैति, तत्रैश्वरः सर्वज्ञः, परमात्मा एक एव । जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्तो विभूनिर्माह ।

जिस द्रव्य में समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है । क्योंकि आत्मा में ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रहता है । आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा, परमात्मा । परमात्मा ईश्वर, सर्वज्ञ और एक है । जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, व्यापक और मित्य है । [तर्क संग्रह]

वैशेषिक के महा द्रव्य गुण आदि परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं । समवाय सम्बन्ध से रहते हैं ।

ये लोग शब्द को आकाश का गुण मानते हैं ।

वैशेषिक और वैशेषिक दोनों ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं—'पृथ्वी पर्वत आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं ।' इस अनुमान के द्वारा ये लोग बुद्धिमान् ईश्वर को सृष्टिकर्ता सिद्ध करते हैं ।

इन्होंने कारण को तीन प्रकार से माना है—

'कारणं त्रिविधं-समवायसमवायिनिमित्तभेदात्' ।

कारण तीन प्रकार के हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण, और निमित्तकारण ।

जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण होता है। जैसे—तन्तुओं में पट समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है अतः तंतु पट के समवायिकारण हैं। समवायिकारण द्रव्य ही होता है (जिसे जैन उपादान कारण कहते हैं)। तन्तु का संयोग पट का असमवायिकारण है। असमवायिकारण संयोग रूप गुण ही होता है।

जो इन दोनों कारणों से भिन्न है वह निमित्तकारण है जैसे—तुरी, वेम, शलाका आदि वस्त्र के निमित्तकारण हैं। यहां ईश्वर भी पृथ्वी आदि सृष्टि को बनाने में निमित्तकारण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तद् द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति’।

जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष-सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है उसके दो भेद हैं—निर्विकल्प और सविकल्प।

सन्निकर्ष के ६ भेद

“प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः—संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति”।

जो इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष सम्बन्ध है वही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है उस सन्निकर्ष के ६ भेद हैं—

संयोग—नेत्र से जो घट पट आदि का प्रत्यक्ष होता है वह संयोग है।

घट पट आदि के रूप का नेत्रों से ज्ञान है—वह ‘संयुक्तसमवाय’ है।

घट के रूप में जो रूपत्व है उसका नेत्रों से प्रत्यक्षज्ञान ‘संयुक्तसमवेतसमवाय’ है।

कर्ण इन्द्रिय से शब्द के प्रत्यक्ष में ‘समवाय’ सन्निकर्ष है।

श्रोत्र से शब्दत्व का साक्षात्कार करने में ‘समवेतसमवाय’ सन्निकर्ष है।

एवं अभाव को—घटाभाव, पटाभाव आदि को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करने में ‘विशेषण विशेष्यभाव’ सन्निकर्ष होता है। [तक संग्रह]

वैशेषिक ने बुद्धि सुख दुःख आदि आत्मा के नव विशेष गुणों के विनाश को मुक्ति माना है।

इन वैशेषिक, नैयायिकों ने ज्ञान को अस्वसंविदित माना है।

एवं धारावाहिकज्ञान को भी प्रमाण माना है। तथा पदार्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। समवाय की कल्पना तो इनके यहां बहुत ही विचित्र है।

“य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्।

संबंध इह प्रत्ययहेतुः स हि भवति समवायः ॥”

[षड् द० पृ० ४२४]

अर्थ—अयुतसिद्ध और आधार आधेयभूत पदार्थों का ‘यह इसमें है’ इस इहेदं प्रत्यक्ष में कारणभूत

सम्बन्ध समवाय कहलाता है। एवं प्रागभाव आदि अभावों को इन लोगों ने सर्वथा तुच्छाभाव रूप सिद्ध किया है।

वैशेषिक ने नैयायिक के समान चार प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इस वैशेषिक दर्शन को 'औलुक्क्य' दर्शन कहा है।

उपसंहार—नैयायिक और वैशेषिक का बहुत से विषयों में एक मत है पदार्थ गणना, प्रमाणसंख्या आदि में ही अंतर है। दोनों ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं किन्तु आगे ईश्वर परीक्षा में इसका अच्छा समाधान किया जायेगा। वास्तव में कृतकृत्य ईश्वर विश्व की रचना में राग द्वेष के बिना कैसे प्रवृत्त होगा? रागद्वेष सहित होने से सर्वज्ञ, हितोपदेशी और इष्टदेव कैसे कहलायेगा? अतः सर्वज्ञ सृष्टि के ज्ञाता द्रष्टा हैं कर्ता नहीं हैं। इनके द्वारा मान्य पदार्थ, द्रव्य, गुण आदि की व्यवस्था भी ठीक नहीं है। समवाय सम्बन्ध तो सिद्ध नहीं हो सकता, हां! यदि उसे तादात्म्य सम्बन्ध कह दो तब तो ठीक होगा। मुक्ति में सुख ज्ञान आदि गुणों का नाश मानना, ज्ञान को अपने संवेदन से रहित मानना, द्रव्य से गुणों को भिन्न मानकर समवाय से उसमें स्थापित करना सर्वथा अशक्य है। इनका सन्निकर्ष प्रमाण भी अव्याप्त है मन और चक्षु से पदार्थ को छूकर ज्ञान नहीं होता है, प्रत्युत दूर से ही हो जाता है। एवं सन्निकर्ष को प्रमाण मानने से सर्वज्ञ की सिद्धि होना शक्य नहीं है क्योंकि भूत, भविष्यत् पदार्थों का सन्निकर्ष होगा नहीं, और सन्निकर्ष से विश्व का ज्ञान हुये बिना सर्वज्ञ होगा नहीं। आत्मा को व्यापक कहना, दिशा और मन को द्रव्य कहना विल्कुल गलत है आत्मा शरीर प्रमाण है, मन आत्मा में ज्ञानावरण की नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होता है। अतः सर्वज्ञ को वीतराग एवं निर्दोष मानना उचित है उनके तत्त्वों पर श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा शब्द का अर्थ है किसी वस्तु स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा करने वालों को मीमांसक कहते हैं इसे ही जैमिनीय मत भी कहते हैं। मीमांसा के दो भेद हैं—कर्ममीमांसा, ज्ञानमीमांसा। यज्ञ-विधि कर्मकाण्ड अनुष्ठान आदि का वर्णन कर्ममीमांसा का विषय है, एवं जीव जगत् ईश्वर के स्वरूप सम्बन्ध आदि का निरूपण ज्ञानमीमांसा का विषय है। कर्ममीमांसा को पूर्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा को उत्तर मीमांसा कहते हैं किन्तु वर्तमान में मीमांसा शब्द का प्रयोग केवल कर्ममीमांसा के लिए है और ज्ञानमीमांसा या उत्तरमीमांसा को 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसकों में कुमारिलभट्ट के शिष्य भाट्टों ने छह प्रमाण माने हैं एवं प्राभाकर मिश्र के शिष्य प्राभाकरों ने अभाव के बिना पांच प्रमाण माने हैं। इस प्रकार से मीमांसादर्शन में भाट्ट और प्राभाकर ये दो संप्रदाय हो जाते हैं। सूत्रकारों ने मीमांसक, प्राभाकर और जैमिनीय इन तीनों नामों से इस दर्शन का उल्लेख किया है।

प्राभाकर की मान्यतानुसार पदार्थ आठ हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या ।

भाट्टों के अनुसार पदार्थ पांच हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव ।

भाट्ट ग्यारह द्रव्य मानते हैं—वैशेषिक के नव द्रव्यों में अंधकार और शब्द ये दो द्रव्य मिलकर ग्यारह होते हैं ।

प्राभाकर—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण मानते हैं एवं भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं ।

मीमांसकों ने ज्ञान को परोक्ष माना है । ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है न ज्ञानान्तर से वेद्य है । अतएव वह परोक्ष है । मीमांसक कहते हैं कि कोई सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं है ।

“जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः ।

देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥

तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः ।

नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥६९॥ [षड् द० पृ० ४३२]

जैमिनीय कहते हैं कि—सर्वज्ञत्व आदि विशेषण वाला कोई सर्वदर्शी देव नहीं है कि जिसके वचन प्रमाणीक माने जा सकें । इस तरह जब अतीन्द्रिय पदार्थों का कोई साक्षात्कार करने वाला ही नहीं है तब नित्य वेद वाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का यथावत् ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

इनके यहां ‘नहीं जाने गये अनधिगत पदार्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है ।’

‘विद्यमान पदार्थों से इंद्रियों का सम्बन्ध होने पर जो आत्मा में बुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष, प्रमाण है ।’

‘लिंग से उत्पन्न होने वाले लैंगिक ज्ञान को अनुमान कहते हैं ।’

नित्य वेद वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ‘आगम’ है ।

‘सादृश्य ज्ञान को उपमान कहते हैं’ ।

‘इष्ट पदार्थ की अनुपपत्ति के बल से किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं’ । प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणों के निमित्त से अर्थापत्ति के भी छह भेद हो जाते हैं—प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति, अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति, उपमानपूर्विका अर्थापत्ति, आगमपूर्विका अर्थापत्ति, अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति, अभावपूर्विका अर्थापत्ति ।

अभाव प्रमाण का लक्षण—

“प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता” ॥७६

वस्तु के सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस वस्तु में प्रवृत्ति नहीं करते, उसमें अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस भूतल आदि आधार में घटादि रूप आधेय के ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त नहीं होते, उस घटादि आधेय से शून्य शुद्ध भूतल के ग्रहण करने के लिये अभाव की प्रमाणता है।

अभाव प्रमाण का विषय भूत अभाव पदार्थ वस्तुभूत है तथा वह चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव। [पड्दर्शन सं०]

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। क्योंकि वेद मुख्य रूप से अतीन्द्रिय धर्म का प्रतिपादक है और अतीन्द्रिय दर्शी कोई पुरुष संभव नहीं है। इसलिये इन लोगों ने प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की असिद्धि बतलाकर अभाव प्रमाण के द्वारा उसके अभाव को सिद्ध कर दिया है।

अतः इन मीमांसकों ने धर्म में वेद को ही प्रमाण माना है। एवं वेद के दोषों से मुक्त रखने के लिए ही अपौरुषेय माना है, और इसीलिए उन्हें शब्द मात्र को नित्य मानना पड़ा, क्योंकि यदि शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और पीरुषेय मानना पड़ता जो कि अभीष्ट नहीं है।

उपसंहार—मीमांसक ने सर्वज्ञ का अभाव कर दिया है एवं वेद को अपौरुषेय मानकर शब्द को नित्य, एक, अमूर्त, सर्वव्यापी मानते हैं किंतु अनुमान एवं आगम से सर्वज्ञ का स्वभाव सिद्ध है, शास्त्र कथंचित् अर्थ की अपेक्षा अनादि अनन्त है फिर भी रचना की अपेक्षा सादि सांत है। शब्द वर्णणायें पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा नित्य-अनादि अनन्त होते हुये भी पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं, अनेक हैं मूर्तिक, अव्यापि हैं। इन मीमांसकों द्वारा मान्य प्रमाणों के लक्षण, पदार्थों के लक्षण गलत हैं। कहीं अभाव को प्रमाण कहा जा सकता है? जैनों के मान्य प्रागभावों का लक्षण इनके द्वारा मान्य अभाव के लक्षणों को बाधित कर देता है। मीमांसकों के ज्ञान को परोक्ष कहा है, किंतु ज्ञान स्वयं का अनुभव स्वयं कर रहा है। इसलिए ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। अतः मीमांसा दर्शन की मीमांसा करने से इनका प्रमाण प्रमेय तत्त्व बाधित हो जाने से जैनसिद्धांत ही अबाधित सिद्ध होता है।

वेदांत दर्शन

‘सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥

[छांदोग्योपनिषत् ३-१४-१]

यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरूप ही है, यहां अन्य कुछ भी नहीं है, सब उसके प्रभाव को देखते हैं, उसे कोई नहीं देख सकता।

“ये तूत्तरमीमांसावादिनः ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यन्ते।” उत्तर मीमांसावादी वेदांती मात्र अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं, यह उनका मूल सिद्धान्त है कि “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि। इनके यहां

ध्यान करने के लिये “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निविध्यासितव्यः” अरे भक्त ! तुम आत्मा को देखो, सुनो, मानो और ध्यान करो । [सर्वदर्शन० ११६] उनका यह कहना है कि एक ही ब्रह्म सभी प्राणियों के शरीर में भासमान होता है । यथा—“एक ही भूतात्मा, सिद्ध, ब्रह्म प्रत्येक प्राणियों में व्यवस्थित है वही एक रूप से तथा अनेक रूप से जल में चन्द्रमा की तरह चमचमाता है” ।

[पद् दर्शन० ४३०]

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वेदान्त (वेद का अन्त-उपनिषद्) प्रसिद्ध हुआ है । ब्रह्मसूत्र-वेदांत सूत्र के रचयिता महर्षि वादरायण व्यास हैं । शंकर, रामानुज और मध्व ये ब्रह्म सूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं । मीमांसकों की तरह वेदांती भी छह प्रमाण मानते हैं । इनके मतानुसार ‘ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है’ इस संसार में जो भी चेतन अचेतन पदार्थ दिखते हैं वे सब अविद्या से जनित हैं । एक ही तत्त्व स्वीकार करने से ये अद्वैत वादी, सत्ताद्वैतवादी भी कहलाते हैं । ये अपौरुषेय वेद के आधार से ही ‘ब्रह्म’ की सिद्धि करते हैं, उक्त श्रुति के समर्थन में ये लोग प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की दुहाई भी देते हैं । फिर इन प्रमाणों को भी अविद्या का विलास कह देते हैं । अतः उनका मान्य तत्त्व ही अविद्या का विलास प्रतीत होता है ।

उपसंहार—यदि अद्वैततत्त्व को आगम से माना जाता है तो आगम और ब्रह्म दो होने से द्वैत आ जाता है, यदि प्रत्यक्ष से कहो तो बाधा आती है, क्योंकि एक को सुख अन्य को दुःख आदि विचित्रतायें दृष्टिगोचर हैं, अनुभव गोचर हैं । यदि एक ही ब्रह्म सबमें है तो सभी को एक साथ सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिये, किंतु ऐसा तो है नहीं । बड़े आश्चर्य की बात है कि चेतनस्वरूप ब्रह्म से चेतन अचेतन रूप जगत् मान लिया जावे । क्या आप स्वयं चेतन ब्रह्म अचेतन बनना अच्छा समझेगा ? वास्तव में अस्तित्व रूप से सभी चेतन-अचेतन कथंचित् एक रूप है । इसी का विपर्यास करके वेदांतवादियों ने सारे जगत् को ब्रह्म रूप से एकरूप मान लिया है किंतु यह मान्यता कथमपि शक्य नहीं है । किसी भी तरह से इस अद्वैत को सिद्ध करने में द्वैत आ ही जाता है । यदि सब द्वैत को अविद्या का विलास कहो, तब तो यह अद्वैत भी अविद्या का ही विलास सिद्ध होगा ।

जैन दर्शन

यह जैन धर्म अनादि निधन धर्म है इसकी स्थापना किसी ने भी नहीं की है । स्याद्वाद, अहिंसा, अपरिग्रह, आदि इसके मौलिक सिद्धांत हैं । जैन सिद्धांत में—सात तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य और पांच अस्तिकाय माने गये हैं । ‘जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जराभोक्षास्तत्त्वम्’ इस सूत्र से जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं । इन्हीं में पुण्य और पाप मिलाने से नव पदार्थ बन जाते हैं ।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं । इनमें काल को छोड़कर पांच अस्तिकाय कहलाते हैं । ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ इस सूत्र से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-

चारित्र्य की एकता ही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है । एवं संपूर्ण कर्मों से आत्मा का छूट जाना ही मोक्ष है ।

सर्वज्ञ प्रणीत आगम ही सच्चे शास्त्र हैं, एवं धातिया कर्म मल से रहित शुद्ध हुई आत्मा ही अर्हत् सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी है । उन सर्वज्ञ के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व है ।

‘छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।

आणाए अहिगमेण य सहहरां होइ सम्मत्तं ॥५६॥ [गोम्मटसार जी.]

छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थ इनका जिनेंद्रदेव ने जिस प्रकार वर्णन किया है, उस ही प्रकार से श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है । यह दो प्रकार से होता है—एक तो केवल आशा से, दूसरा अधिगम से ।

जिनेंद्रदेव ने जो भी वस्तु तत्त्व का वर्णन किया है वह ठीक है क्योंकि ‘जिनदेव असत्यवादी नहीं हो सकते’ ऐसा केवल आशा मात्र से श्रद्धा करना आशा सम्यक्त्व है । तथा इन द्रव्यादिकों का प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण, नय आदि से निर्णय करके श्रद्धा करना अधिगम सम्यक्त्व है ।

सम्यक्त्व होने के बाद जो यथार्थ ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है उसके भी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेद हो जाते हैं ।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान के बाद रागद्वेष को दूर करने के लिये जो चारित्र्य ग्रहण किया जाता है वह सम्यक्चारित्र्य है । इसके पंचमहाव्रत आदि रूप से सकल चारित्र्य और पंच अणुव्रत आदि रूप से विकल चारित्र्य ऐसे दो भेद होते हैं ।

इस जैन सिद्धांत में सप्तभंगी, नय पद्धति आदि विशेष बातें बहुत ही उत्तम हैं वस्तु तत्त्व को ज्यों की त्यों समझाने वाली हैं । द्रव्याधिक नय से आत्मा आदि पदार्थ नित्य हैं किंतु पर्यायाधिक नय से ये अनित्य भी हैं । इत्यादि रूप से वस्तु की व्यवस्था सुघटित सिद्ध है । यह अनेकांत शासन, आत्मा, सर्वज्ञ, परलोक, मोक्ष आदि की व्यवस्था करते हुये सदा जय शील हो रहा है ।

सभी दार्शनिकों के मुख्य-मुख्य सिद्धांत

चार्वाक—भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैक-प्रमाणवाद ।

बौद्ध—निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, साकारज्ञानवाद, क्षणभंगवाद, चित्राद्वैतवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, शून्यवाद, त्रैरूप्यहेतुवाद, अपोहवाद ।

सांख्य—प्रकृतिकर्तृत्ववाद, अचेतनज्ञानवाद, इंद्रियवृत्तिवाद, सत्कार्यवाद, नित्यैकांतवाद ।

नैयायिक वैशेषिक—षोडशपदार्थवाद, सप्तपदार्थवाद, सन्निकर्षवाद, कारकसाकल्यवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, पांचरूप्यहेतुवाद, समवायवाद ।

मीमांसक—वेद अपौरुषेयवाद, परोक्षज्ञानवाद, अभावप्रमाणवाद, शब्दनित्यत्ववाद ।

वैयाकरण—शब्दाद्वैतवाद, स्फोटवाद ।

वेदांती—ब्रह्मवाद, अविद्यावाद ।

इन सबके प्रमुख गुरु एवं मतों के नाम

१—चार्वाक को लौकायतिक भी कहते हैं इनके गुरु बृहस्पति हैं ।

२—नैयायिक—न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं ।

इन्हीं का नाम अक्षपाद भी है अतः इसे अक्षपाद दर्शन भी कहते हैं, इनका मूलग्रन्थ 'न्यायसूत्र' है। न्याय भाष्य के अनेकों ग्रन्थ हैं ।

जैसे—वात्स्यायन का 'न्यायभाष्य' उद्योतकर का 'न्यायवार्तिक' वाचस्पति की 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका,' उदयन की 'न्याय वार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि' तथा 'कुसुमाञ्जलि' जयन्त की 'न्याय मंजरी' आदि । ऐसे ही श्रीकण्ठ अभय तिलकोपाध्याय विरचित न्यायालंकार वृत्ति आदि प्रमुख तर्क ग्रन्थ हैं। भासर्वज्ञ कृत न्यायसार की अठारह टीकायें हैं । इनमें न्यायभूषण नाम की टीका सर्वप्रमुख है ।

प्राचीन समय के न्याय को 'प्राचीनन्याय' एवं आधुनिक काल के न्याय को 'नव्यन्याय' कहते हैं। प्राचीन न्याय के अंतर्गत 'गौतम' का न्यायसूत्र, उसके भाष्य आदि हैं । नव्यन्याय का प्रारंभ गंगेश की 'तत्त्वचिंतामणि' से हुआ है, इसे 'न्यायदर्शन' या शैव दर्शन भी कहते हैं एवं 'योग' भी कहते हैं ।

३—वैशेषिक—वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक 'महर्षिकणाद' हैं । कहा जाता है कि ये इतने बड़े संतोपी थे कि खेतों से चुने हुये अन्नकणों के सहारे ही जीवन यापन करते थे । इसलिये इनका उपनाम 'कणाद' पड़ा है । उनका वास्तविक नाम 'उलूक' था अतएव वैशेषिक दर्शन कणाद या 'औलूक्य' दर्शन नाम से प्रसिद्ध है । इस दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की विशद विवेचना है अतः इसे 'वैशेषिक' भी कहते हैं । अन्यत्र भी यही बात है ।

“मुनिविशेषस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठवतो रथ्यानिपतांस्तंडुलानादायादाय कृताहारस्याहारनि-
मित्तात्कणादसंज्ञा अजनि । तस्य कणादस्य पुरः शिवेनोलूकरूपेण मतमेतत्प्रकाशितम् 'तत औलूक्यं प्रोच्यते ।
पशुपतिभक्तत्वेन पाशुपतं चोच्यते” ।

कापोत सदृशवृत्ति का अनुसरण करने वाले मार्ग में पतित तंदुल कणों को खाने वाले होने से इन्हें कणाद संज्ञा हुई, इनके आगे शिव ने उल्लू का शरीर धारण करके इस मत को चलाया अतः 'औलूक्य' हैं । वैशेषिक लोग पशुपति-शिव के भक्त हैं अतः यह दर्शन 'पाशुपत' भी कहलाता है । वैशेषिक कणाद के शिष्य हैं अतः कणाद भी कहलाते हैं । [षड्द० ४०६]

इनके यहां कणाद कृत मूलग्रन्थ 'षट्पदार्थी-वैशेषिक सूत्र' नाम से है । इसपर प्रशस्तपाद का 'पदार्थ धर्म संग्रह' है, इस प्रशस्तपाद भाष्य-पदार्थ धर्मसंग्रह पर दो उत्तम टीकायें हैं, उदयन आचार्य की किरणावली, और श्रीधराचार्य की 'न्यायकंदली' । इसके बाद का जो वैशेषिक साहित्य है वह न्याय और वैशेषिक इन दोनों का संमिश्रण है । ऐसे ग्रन्थों में शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी'

लौगाक्षि भास्कर की 'तर्ककौमुदी' वल्लभाचार्य की 'न्यायलीलावती' और विश्वनाथ पंचानन का भाषा परिच्छेद (सिद्धांत मुक्तावली टीका के साथ) प्रमुख है। [भारतीयद० पृ० १४६]

व्योमशिवाचार्य कृत व्योमवती टीका, श्रीवत्साचार्यकृत लीलावती तर्क, आत्रेयतन्त्र आदि

४—मीमांसक—मीमांसा का मूल ग्रन्थ है 'जैमिनिसूत्र' इस जैमिनि के सूत्र पर शबरस्वामी का विशद भाष्य है जिसे 'शाबरभाष्य' कहते हैं। उनके बाद बहुत से टीकाकार और स्वतंत्र ग्रन्थकार हुये, उनमें दो मुख्य हैं—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर। इन दोनों के नाम पर मीमांसा में दो प्रधान संप्रदाय चल पड़े जिनका नाम है—भाट्ट मीमांसा और प्रभाकर मीमांसा। [भारतीयद० पृ० १६६]

मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं—पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसावादी यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छह ब्राह्मण कर्मों का अनुष्ठान करने वाले हैं, ब्रह्म सूत्रधारी हैं, यज्ञादि क्रिया काण्ड में मुख्य रूप से प्रवृत्ति करते हैं। इनके साधु एक दण्डी, त्रिदण्डी, गेरुआ वस्त्रधारी मृगछाला, कमंडलु आदि रखते हैं, सिर मुंडाते हैं। इनका वेद ही गुरु और भगवान् है ये लोग वेद के सिवा किसी को सर्वज्ञ मानने को तैयार नहीं हैं। इनमें कुमारिल का मीमांसाश्लोकवार्तिक, प्रभाकर का 'बृहती' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

५—उत्तर मीमांसावादी वेदांती—कहलाते हैं ये केवल अद्वैत ब्रह्म को ही मानते हैं। इनके साधु कुटीचर, बहूदक, हंस, परमहंस ऐसे चार तरह के होते हैं। जो त्रिदण्डधारी, शिखाधारी ब्रह्म सूत्रधारी हैं यजमानों के यहां भोजन करते हैं गृह त्यागी हैं कुटिया बनाकर जंगल में रहते हैं, वे 'कुटीचर' कहलाते हैं। बहुत जल वाली नदी में स्नान करने से बहूदक होते हैं। हंस साधु ब्रह्मसूत्र, शिखा नहीं रखते, कषायवस्त्र, दण्डधारी ग्राम में एक रात नगर में तीन रात निवासी 'हंस' कहलाते हैं।

इन हंस साधु को तत्त्वज्ञान होने के बाद 'परमहंस' कहते हैं। इसे ही वेदांत दर्शन कहते हैं।

वेदांत का अर्थ है वेद का अंत। उपनिषदों को भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अंत कहा जाता है। वैदिक काल में तीन तरह के साहित्य होते हैं। सबसे प्रथम वैदिक मंत्र जो भिन्न-भिन्न संहिताओं—ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद में संकलित हैं।

ततः परं ब्राह्मण भाग जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है, अंत में उपनिषद जिसमें दर्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनों मिलकर श्रुति या वेद कहलाते हैं। अध्ययन के विचार से उपनिषदों की बारी अंत में आती थी। लोग संहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित यज्ञादि कर्म करने से ब्राह्मण, वानप्रस्थ या संन्यास लेकर वन में रहने पर आरण्यक नाम होता है।

उपनिषदों का विकास आरण्यक साहित्य से हुआ है। स्वयं उपनिषदों में कहा है कि वेद-वेदांग सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर जब तक ज्ञान पूर्ण न हो जावे तब तक मनुष्य उपनिषदों की

शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, उपनिषद् (उप+नि+षद्) जो ईश्वर के समीप या गुरु के समीप पहुंचाने वह उपनिषद् है। भिन्न-भिन्न उपनिषदों के विचार भेद का परिहार करने के लिये बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ की रचना की। इसे वेदांत सूत्र शारीरिक सूत्र, शारीरिकमीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र पर अनेकों भाष्य हैं, शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, निंबार्काचार्य, आदि के भाष्यों से उनके नाम पर भिन्न भिन्न-संप्रदाय चल पड़े हैं। आजकल शंकराचार्य का 'अद्वैतवाद' और रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद अधिक प्रसिद्ध है।

६. सांख्य—

कुछ सांख्य ईश्वर मानते हैं कुछ निरीश्वरवादी हैं, जो निरीश्वर हैं उनके नारायण ही देवता हैं। इनके आचार्य विष्णु, प्रतिष्ठाकारक चैतन्य आदि शब्दों से कहे जाते हैं।

सांख्य दर्शन के रचियता महर्षि कपिल हैं। सांख्य अत्यन्त प्राचीन मत है इसमें पचीस तत्त्वों की संख्या होने से इसे सांख्य मत कहते हैं। सांख्य दर्शन का मूल ग्रन्थ है कपिल का 'तत्त्वसमास'। इसमें निरीश्वर सांख्य का दर्शन है। योगदर्शन में ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है अतः इसे 'सेश्वर सांख्य' कहते हैं। इस सेश्वर सांख्य मत के प्रवर्तक पतञ्जलि ऋषि हैं अतः इसे 'पातञ्जल दर्शन' भी कहते हैं।

कपिल, आसुरि, पंचशिख, भार्गव तथा उलूक आदि सांख्य मत के प्रमुख प्रवक्ता हैं। इसलिए इसे सांख्य या कपिलमत भी कहते हैं। कपिल को परमर्षि कहने से इस मत को 'पारमर्ष' भी कहते हैं। सांख्यों का प्राचीन ग्रन्थ है ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' गौडपाद का 'सांख्यकारिकाभाष्य' वाचस्पति की 'तर्क कौमुदी' विज्ञान भिक्षु का 'सांख्य प्रवचन भाष्य' और सांख्यसार आदि ग्रन्थ हैं। एवं इनके षष्टितंत्र का पुनः संस्करण रूप 'माठर भाष्य' सांख्यसप्तति, तत्त्व कौमुदी, आत्रेयतंत्र आदि हैं।

७. बौद्ध—

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध हैं। इन्हें सुगत भी कहते हैं अतः इनके अनुयायी बौद्ध या सौगत कहलाते हैं, इनमें चार भेद हैं—सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक।

बौद्धों के ज्ञान पारमिता आदि दश ग्रन्थ हैं—तर्कभाषा, हेतुबिन्दु, अर्चटकृत, हेतुविन्दु की अर्चट तर्क नाम की टीका, प्रमाणवार्तिक, तत्त्वसंग्रह, न्यायबिन्दु, कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह पंजिका, न्यायप्रवेश आदि ग्रन्थ हैं।

महात्मा बुद्ध के उपदेश के तीन पिटक इनके यहां माने गये हैं उनमें-विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिघम्म पिटक ये नाम हैं। इन पिटकों में केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है।

धर्मकीर्ति का 'प्रमाणवार्तिक' उसकी टीका में प्रभाकर गुप्त का 'प्रमाणवार्तिकालकार' है। शांतरक्षित का 'तत्त्वसंग्रह' दिग्नाग का 'न्यायप्रवेश' धर्मकीर्ति का 'न्यायबिन्दु' आदि।

पद्ददर्शन समुच्चय में बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इनको 'पद्दर्शन' कहा है। आगे चलकर नैयायिक और वैशेषिक दर्शनों को दो न कहकर एक कहने से आस्तिकवादी के पाँच ही दर्शन कह देते हैं एवं उसमें नास्तिक चार्वाक की संख्या मिलाकर 'पद्दर्शन' कहते हैं। इस पद्दर्शन में मीमांसक और वेदांती को भी एक ही में लिया है।

८. जैनधर्म में किसी को इस जैनधर्म का प्रवर्तक नहीं माना गया है क्योंकि यह जैनधर्म अनादि-निघन धर्म है। अनादि काल से जीव कर्मों का नाशकर सर्वज्ञ होते रहे हैं और वर्तमान से लेकर अनन्त-नन्त काल तक सर्वज्ञ होते रहेंगे। जैन दर्शन में संसार पूर्वक-बंधपूर्वक ही मोक्ष माना गया है। अतः संसारी जीव ही आत्मा की सर्वोच्च विशुद्धि प्राप्त करके भगवान बन जाते हैं, 'कर्मारतीन् जयतीति जिनः जिनो देवता अस्य स जैनः' जो कर्म शत्रुओं को जीतते हैं वे जिन कहलाते हैं एवं 'जिन' देवता जिसके उपास्य हैं वे जैन कहलाते हैं, यह धर्म 'अहिंसामय' है अतः "सर्वेभ्यो हितः साधः" प्राणिमात्र का हितकारी होने से 'सार्वधर्म' कहलाता है। जिन भगवान के ही साध, सर्वज्ञ, अर्हत, जिनेन्द्र, शिव, परमेश्वर, महेश्वर, महादेव आदि सार्थक नाम हैं। जैनधर्म में मनुष्य रत्नत्रयरूप उपाय तत्त्व से मोक्षरूप उपेयतत्त्व को प्राप्त कर लेता है जैनधर्म में—सभी वस्तुयें द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं एवं पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं, सत् रूप—महासत्ता से एक एवं पृथक्-पृथक् अवांतरसत्ता से अनेक हैं, किन्तु इस मर्म-स्याद्वाद को न समझकर बौद्धों ने वस्तु को सर्वथा क्षणिक कह दिया है। सांख्य ने ही सर्वथा नित्य कह दिया है। वेदांती ने एक ब्रह्मरूप एवं अन्यों ने अनेक रूप कह दिया है। ऐसे ही कर्मों की विचित्रता से संसार का वैचित्र्य देखकर वैशेषिकों ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता कह दिया है, किन्तु जैनाचार्यों ने सृष्टि को अनादि निघन एवं जीव पुद्गल संयोग से उत्पन्न हुई सिद्ध किया है। मीमांसक ने वेद को अनादि कह दिया है किन्तु वास्तव में अर्थ की अपेक्षा आगम अनादि है एवं सर्वज्ञ की वाणी द्वारा गणधर अर्थित होने से परम्परा कृत आचार्य प्रणीत होने से सादि भी हैं। अनेकांत शासन में कुछ भी दोष नहीं है। इसलिए इन अन्य मतावलंबियों के ग्रंथों का पठन, मनन, कुश्रुत का पठन मनन है, इससे मिथ्यात्व का आस्रव होता है, ऐसा समझना चाहिये। जैनाचार्यों ने इन ग्रन्थों का अवलोकन केवल उनके तत्त्वों की मान्यताओं का खण्डन करने के लिये ही किया है। जब बौद्ध परंपरा में दिङ्नाग के पश्चात् धर्मकीर्ति जैसे प्रखरतांकिकों की तूती बोलती थी, तो ब्राह्मण परम्परा में कुमारिल जैसे उद्भट्ट विद्वानों की प्रतिध्वनि मंद नहीं हुई थी दोनों ही विद्वानों ने अपनी-अपनी कृतियों में जैन परम्परा के मंतव्यों की खिल्ली उड़ाई थी और समंतमद्र जैसे तांकिकों का खण्डन किया था। उस समय अकलंक देवने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत लेकर बौद्धदर्शन आदि पढ़ने का सकल्प किया, उस समय श्री अकलंक देव ने न्याय प्रमाण विषयक अनेकों ग्रन्थ रचे, लघुयस्त्रयी, न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय, अष्टशती, प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थों में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तांकिकों की एवं उद्योतकर भर्तृहरि कुमारिल जैसे ब्राह्मण तांकिकों की उक्तियों का निरसन करते हुये जैन मन्तव्यों की

स्थापना ताकिक सौजी से की है। इन अकलंक देव से पूर्व श्री समंतभद्र स्वामी ने भगवान की स्तुति करते हुये न्याय का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। श्री जगन्नाथी आचार्य के महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र के अष्टाक्षरपर आन्तश्रीभासा स्तुति बनाकर तो एक बलौकिक प्रतिभाशाली कहलाये हैं। श्री विद्याभक्त महोदय ने आन्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा एवं अष्टशहस्री, श्लोक नातिकालकार टीका आदि ग्रंथों में न्याय का विस्तृत वर्णन किया है। श्री भाणिक्यनन्दि के परीक्षासुखसूत्र ग्रन्थ पर प्रथमरत्नमाला, प्रथमकमल-मार्तण्ड आदि विस्तृत टीकाये हुई है। जैन न्याय का मतलब यही है कि 'प्रमाणार्थपरिष्कारं न्यायः' प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये सभी शास्त्रकारों ने उसका यही अर्थ किया है 'नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्यायः न्यायकु०। 'नितरामीयते गम्यते मर्यादार्थानां ज्ञानार्थत्वात् ज्ञायतेऽर्थाः अनित्यत्वास्तित्वाच्चोऽनेनेति न्यायः तर्कमार्गः [न्याय प्रवेश पं० पृ० १] जिसके द्वारा विवक्षित अर्थ का ज्ञान हो उसे न्याय कहते हैं। अतिशयरूप से जिसके द्वारा अनित्यत्व, अस्तित्व आदि अर्थ जाने जाये वह न्याय-तर्क मार्ग है। न्यायविनिश्चयालंकार में जैनाचार्यों ने भी विशेष रूप से कहा है कि—

'निश्चितं च निर्बाधं च वस्तुतत्त्वमीयतेऽनेनेति न्यायः' [न्यायविनिश्चयालंकार भा० १ पृ० ३३] जिसके द्वारा निश्चित और निर्बाध वस्तु तत्त्व का ज्ञान होता है उसे न्याय कहते हैं। इसमें 'निर्बाध' पद जैन न्याय की निर्दोषता को प्रगट करता है। ऐसा ज्ञान प्रमाणों के द्वारा होता है इसी से न्याय विषयक ग्रंथों का मुख्य विषय प्रमाण होता है। प्रमाण के ही भेद प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि माने गये हैं, किन्तु प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा वस्तु तत्त्व को जानकर भी उसकी स्थापना और परीक्षा में हेतु और युक्तिवाद का अबलम्बन लेना पड़ता है। इसी से न्याय को तर्कमार्ग और युक्तिशास्त्र भी कहा है। जैनधर्म के बारहवें दृष्टिवाद अंग में ३६३ मिथ्यामतों का स्थापनापूर्वक खंडन किया गया है। न्यायविनिश्चय के प्रारम्भ में श्री अकलंक देव ने लिखा है—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपाजितैः ।

माहात्म्यात् तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः ॥

न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते ।

सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकंपापरैः ॥

कल्याण के इच्छुक अज्ञानों के पूर्वोपाजित पाप के उदय से एवं स्वयं कलिकाल के प्रभाव से गुण द्वेषी एकांतवादियों ने न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धि से प्रेरित हो करके हम उस मलिन किये गये न्यायशास्त्र को सम्यग्ज्ञान रूपी जल से किसी तरह प्रक्षालित करके निर्मल करते हैं। इसी भावना से ही श्री अकलंक देव ने छः महीने तक बौद्धों की अधिष्ठात्री तारादेवी से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित करके जैनधर्म के स्याद्वाद की विजय पताका लहराई थी। और आज भी वीरप्रभु का अनेकांत शासन जयशील हो रहा है। तीर्थंकर श्री वृषभदेव या महावीर प्रभुने इस जैनधर्म की स्थापना नहीं की है,

प्रत्युत सभी तीर्थंकर धर्मतीर्थ के प्रकाशक, उपदर्शक मात्र होते हैं, स्याद्वादमय धर्म तो वस्तु का स्वरूप होने से किसी के द्वारा प्रस्थापित नहीं है। जन्मधर्म में वर्तमान में दो भेद दिख रहे हैं दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर संप्रदाय में स्त्रीमुक्ति केवली कवलाहार सवस्त्रमुक्ति आदि माने गये हैं, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियों को उसी भव से मुक्ति का निषेध, केवली के कवलाहार का निषेध एवं सवस्त्रमुक्ति का निषेध किया गया है।

जैनधर्म के मर्म को समझने के लिये महापुराण, पद्मपुराण, भद्रवाहुचरित्र आदि प्रथमानुयोग, तत्त्वार्थ सूत्र, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, पङ्खंडागम आदि करणानुयोग, रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनन्दि-श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, मूलाचार, आचारसार आदि चरणानुयोग, एवं समाधितन्त्र, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश, समयसार आदि द्रव्यानुयोग ऐसे चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का गुरुमुख से पठन, स्वाध्याय करना चाहिये।

इस प्रकार से सर्वदर्शन के सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा की गई है।

ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खण्डन

वैशेषिक कहते हैं कि—‘सदाशिव’ नाम का एक महेश्वर है जो सदा ही मुक्त है, कभी भी कर्ममल से लिप्त नहीं था अनादिकाल से ही मुक्त है और सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता है यथा—

“तनुभुवनकरणादिकं विवादापन्नं बुद्धिमन्निमित्तकम् कार्यत्वात्। यत्कार्यं तद् बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टं यथा वस्त्रादि। कार्यं चेदं प्रकृतं तस्माद् बुद्धिमन्निमित्तकं योऽसौ बुद्धिमांस्तद्धेतुः स ईश्वरः इति।”

“शरीर जगत्, इन्द्रिय आदि विवाद की कोटि में आये हुये पदार्थ बुद्धिमान् निमित्त कारण से हुये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। जो कार्य होता है वह बुद्धिमान् निमित्त कारण से ही होता है, जैसे वस्त्रादि। और कार्य प्रकृत शरीर आदि हैं इसलिये बुद्धिमान् निमित्त कारण से हुये हैं। जो बुद्धिमान् उनका कारण है वह ईश्वर है।” इसलिए यह सिद्ध होता है कि अनादि सिद्ध ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का बनाने वाला है।

जैनाचार्यों का कहना है कि “तनुभुवनकरणादयो न बुद्धिमन्निमित्तकाः दृष्टकर्तृकप्रासादादि विलक्षणत्वात् आकाशादिवत्।” ‘शरीर जगत् और इन्द्रिय आदि बुद्धिमान् कारण जन्य नहीं हैं, क्योंकि जिन मकानादि के कर्ता देखे जाते हैं उनसे भिन्न हैं। जैसे आकाशादि।’

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टिकर्ता शरीर सहित है या रहित? यदि रहित कहो तो अन्य मुक्त जीवों के समान वह भी सृष्टि नहीं बना सकता। यदि शरीर सहित कहो, तो वह कर्मसहित होने से अज्ञानी संसारी प्राणी के समान सृष्टि नहीं कर सकेगा।

इन वैशेषिकों ने एक सदाशिव ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है, उसमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ऐसी तीन शक्तियां मानी हैं। पुनः प्रश्न यह भी होता है कि कर्म के बिना इच्छा शक्ति कैसे होगी? यदि ज्ञान शक्ति से ही सम्पूर्ण कार्य करना मानो, तो भी असंभव है। यदि वैशेषिक कहे कि—

समीहामंतरेणापि यथा वक्ति जिनेश्वरः ।
 तथेश्वरोऽपि कार्याणि कुर्यादित्यप्यपेशसम् ॥१४॥
 सति धर्मविशेषे हि तीर्थकृत्वसमाहये ।
 ब्रूयाज्जिनेश्वरो मार्गं न ज्ञानादेव [केवलात् ॥१५॥
 सिद्धस्यापास्तनिःशेष-कर्मणो वागसंभवात् ।
 विना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपशदेशना ॥१६॥

जिस प्रकार से आप जैनों का जिनेश्वर बिना इच्छा के मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है, वैसे ही हमारा महेश्वर बिना इच्छा के सृष्टि बनावे क्या बाधा है ? आचार्य ने कहा कि भाई ! हमारे जिनेश्वर की तीर्थकर नामा नाम कर्म विशेष से उपदेश में प्रवृत्ति होती है और वे तीर्थकर तो कर्म सहित हैं शरीरसहित हैं। हां ! मोहकर्म के नष्ट हो जाने से इच्छा रहित अवश्य हैं। पूर्णकर्म रहित सिद्धों का उपदेश हम नहीं मानते हैं।

यदि आप भी ईश्वर के योग विशेष मानों तो शरीर अवश्य मानना पड़ेगा, पुनः प्रश्न माला चलती जायेंगी। वह सृष्टि रचने के पहले अपना शरीर बना लेता है या शरीररहित ही सृष्टि बनाकर अपना शरीर बनाता है ? यदि कहो ईश्वर स्वयं अपना शरीर नहीं बनाता है वह स्वयं बन जाता है, तब तो जैसे ईश्वर की इच्छा और प्रयत्न के बिना उसका शरीर बन गया वैसे ही सारी सृष्टि बन जावे।

यदि ईश्वर अपने पूर्व शरीर का कर्ता पूर्व पूर्ववर्ती शरीर से होता है तब तो शरीर परम्परा अनादि सिद्ध होने से अनवस्था दोष आ जाता है, एवं संसारी प्राणी और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं दिखता है। कामणशरीर से सहित ही संसारी प्राणी अनादि काल से शरीरों का निर्माण करता चला आ रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि उस ईश्वर का ज्ञान नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य कहो तो सारे कार्य एक साथ हो जावेंगे, क्योंकि ज्ञान सदा काल एक नित्य है, अनित्य कहो तो भी अनेकों दूषण आते हैं। यहां ईश्वर का ज्ञान व्यापी है या अव्यापी ? स्वसंविदित है या अस्वसंविदित ?

वह ज्ञान महेश्वर से भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि प्रश्न चलते ही रहेंगे।

वैशेषिक महेश्वर के ज्ञान को महेश्वर से भिन्न मानकर समवाय से महेश्वर को ज्ञानी कहता है तब आचार्य कहते हैं कि यह समवाय एक है तो यह समवाय महेश्वर में ही ज्ञान को जोड़े अन्यत्र आकाशादि में नहीं ऐसा क्यों ? यदि कहो आकाश अचेतन है, ईश्वर चेतन है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि आपने ईश्वर को चेतन नहीं माना है चेतन के समवाय से ही चेतन माना है।

“नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता स्वयं ज्ञानस्य केवलं ।

समवायात्सदा ज्ञाता यश्चात्मैव स किं स्वतः ॥६५॥

यदि कहो कि ईश्वर न ज्ञाता है न अज्ञाता है किन्तु ज्ञान समवाय से ज्ञाता है तब तो बताओ ईश्वर आत्मा है या नहीं ? तब उसने कहा, ईश्वर न आत्मा है न अनात्मा हैं । आत्मत्व के समवाय से आत्मा है । तब तो बताओ उस आत्मत्व समवाय के पहले वह क्या है ? द्रव्य है ? तब वह कहता है कि नहीं । ईश्वर न द्रव्य है न अद्रव्य है, द्रव्यत्व के समवाय से द्रव्य है तब प्रश्न होता है कि द्रव्यत्व समवाय के पहले वह सत् रूप तो अवश्य होगा ? उसने कहा नहीं । ईश्वर न स्वतः सत् है न असत् है सत्ता के समवाय से 'सत्' है तब तो बड़ी आफत आ गई, सत्ता समवाय के पहले ईश्वर असत् ही रहेगा । अर्थात् उस ईश्वर का कुछ भी स्वरूप समझ में नहीं आता है । समवाय की सिद्धि तो असंभव है । क्योंकि जीव में या ईश्वर में ज्ञान समवाय के पहले वे ज्ञानी हैं या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी हैं तो समवाय ने क्या किया ? यदि अज्ञानी हैं तो पत्थर आदि अज्ञानी अचेतन में भी ज्ञान का समवाय क्यों नहीं होता है अतः समवाय सम्बन्ध नाम से तादात्म्य सम्बन्ध मानकर स्वरूप का स्वरूपवान् के साथ तादात्म्य ही स्वीकार करना चाहिए अग्नि में उष्ण का जीव में ज्ञान का जो तादात्म्य सम्बन्ध है उसे ही समवाय भले ही कह दो ।

इसलिए उपर्युक्त दोषों के निमित्त से आपका महेश्वर देहसहित, कर्मसहित, सर्वज्ञ एवं मोहरहित सिद्ध नहीं होता है ।

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टि क्यों बनाता है किसी अन्य पुरुष की प्रेरणा से, या दया से, क्रीड़ा से या स्वभाव से ?

यदि अन्य से प्रेरित होकर बनाता है तब तो उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है । यदि दया से बनाता है तो उसने दुःखी प्राणी को क्यों निर्माण किये ? यदि कहो पापियों को दण्ड देना पड़ता है तब तो उसने पाप की सृष्टि क्यों की ? परम पिता परमकारुणिक ईश्वर पाप और पापीजनों की सृष्टि कबोंन फिर उन्हें दुःख देवे यह तो उचित नहीं है । यदि कहो क्रीड़ा से सृष्टि का निर्माण करता है तब तो वह प्रभु महान् कैसे रहेगा, प्रत्युत क्रीड़ा प्रिय होने से बालकवत् नादान समझा जावेगा । यदि कहो स्वभाव से वह सृष्टि का निर्माण करता है तब तो ईश्वर का स्वभाव नित्य है सदा काल है अतः सदा काल एक जैसी सृष्टि बनती रहेगी, तरह-तरह की विचित्रता का अनुभव नहीं होना चाहिये ।

इत्यादि अनेकों दोष आते हैं अतः ईश्वर को अनादि सिद्ध एवं सृष्टि का कर्ता मानना अनुचित है । यह संसारी प्राणी अनादि काल से कर्म सहित होने से स्वयं ही पुण्य पाप का कर्ता है और भोक्ता है । जब पुरुषार्थ से कर्मों का भेदन कर देता है तो ईश्वर महेश्वर, ब्रह्मा, महात्मा, परमात्मा सिद्ध, शिव अक्षय, अच्युत आदि अनेकों नाम से पूज्य बन जाता है ।

सांख्य की आप्त समीक्षा

'कपिल एव मोक्षमार्गस्योपदेशकः क्लेशकर्मविपाकाशयानां भेत्ता च रजस्तमसोस्तिरस्करणात् ।'

[आप्त प. पृ. १५६]

कविता ही मोक्ष मार्ग का उपदेशक तथा कर्मों, विचारों और भावनाओं का भंडार करने वाला है, क्योंकि उसके रस और तन्म का सर्वथा अभाव है। वह कर्मों, विचारों का है। इस पर आचार्य कहते हैं कि कविता सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह स्वयं अपने ज्ञान के सर्वथा विन्यत है, इसलिये सर्वज्ञ नहीं है। सांख्य का कहना है कि बुद्ध होना, संसारी होना पुरुष का स्वभाव नहीं है। प्रज्ञान के ही संसारोत्पत्ता, मुक्ति तथा ज्ञान और सुख का होना संभव है।

प्रज्ञानं ज्ञानवतो मोक्षमार्गोऽस्मात्पुरुषोत्तमस्य ।
 तन्मयं विश्ववेदित्वात् भेदित्वात् कर्मभूतत्वात् ॥२०॥
 इत्ययं भावमेवास्माद्वेतनत्वात् पदादिस्य ।
 तदव्यक्तो मुक्तस्यैवा निरुक्तः प्रथमः ॥२१॥
 भोक्तव्या वेत्त एवास्तु कर्ता तदभिरक्षितः ।
 विरोधे तु तयोर्भोक्तिः त्वाद्भूतौ कर्तृता कर्म ॥२२॥

प्रज्ञान ही मोक्ष मार्ग का उपदेशक है, क्योंकि वह ज्ञानो है और ज्ञानो इत्यलिये है कि वह विश्व-वेदो-सर्वज्ञ है, तथा सर्वज्ञ भी इत्यलिये है कि कर्मों, पदों का भंडार है। आचार्य कहते हैं कि सांख्यो का वह मत असंभव है क्योंकि वह प्रज्ञान अस्मादि की तरह अवेत्त है। इत्यलिये प्रज्ञान को कर्मों का नाशक, विश्वज्ञानी, मोक्षमार्ग का उपदेशकत्व आदि मानना असंभव है। यदि मानते तो पुरुष की कल्पना ही व्यर्थ हो जावेगी। अगर कहो कि पुरुष भोक्ता है तब तो कर्ता भी होवे, क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक तरह संभव हैं। यदि ज्ञान के कर्तारने का विरोध कहा जाये तो भोक्ता पुरुष भूय, ज्ञान का कर्ता कैसे रहा? आचार्य तो इस बात का है कि प्रज्ञान सर्वज्ञ है और मुमुक्षु जब स्तुति पुरुष की करते हैं। तात्पर्य यह है कि कविता में ज्ञान के आशय भूय प्रज्ञान के सर्वज्ञ से ही ज्ञान माना है, वह पुरुष स्वयं तो ज्ञान रहित है, किंतु वह सिद्धांत सर्वथा सत्य है अवेत्त में ज्ञान ही और उसके सर्वज्ञ से संसार में पुरुष ज्ञानी बनें एवं मुक्त में अज्ञानी रहें वह कल्पना सत्य है अतः मानस्योत स्वल्प पुरुष विरोध ही कर्मों का नाशक, विश्व का ज्ञाता सर्वज्ञ और मोक्ष मार्ग का उपदेशक आदि है किंतु कविता श्राव्य नहीं है।

बुद्ध की प्राप्ति समीक्षा

सुगत ही सर्वज्ञ है क्योंकि वह संपूर्ण तृप्ता से रहित है एवं संपूर्ण गतः सुगतः, अथवा मोक्ष-गतः सुगतः यदि वा सुपूरुगतः सुगतः' इस नियम में जो संपूर्णता को प्राप्त है वा मोक्ष अथवा मोक्ष को प्राप्त है वा अच्छी गति को प्राप्त है वह सुगत है एवं उस सुगत की जगत् के लिये सहती कृपा है 'बुद्धो भवेत्तु जगते हिताय' में जगत् का हित करने के लिये बुद्ध होना' इत्यादि भावना से ही बुद्ध भवनात् सर्वज्ञ प्राप्त है और मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। वह सांख्यो का कहना है किंतु आचार्य उल्टर होते हैं कि—

सुगतोऽपि न निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः ।

विश्वतस्त्वज्जतापायात् तत्त्वतः कपिलादिवत् ॥८४॥

संवृत्या विश्वतस्त्वजः श्रेयोमार्गोपदेश्यपि ।

बुद्धो वंद्यो नतु स्वप्नस्तादृगित्यज्जचेष्टितं ॥८५॥

सुगत भी मोक्ष मार्ग का उपदेशक नहीं है, क्योंकि वास्तव में उसके सर्वज्ञता नहीं है, जैसे कपिल आदि में नहीं है ॥ यदि कहो बुद्ध संवृति-कल्पना से सर्वज्ञ है और मोक्ष मार्ग का उपदेष्टा भी है। फिर भी संवृति से सर्वज्ञ होते हुये भी बुद्ध भगवान् तो वंदनीक हों और कल्पित स्वप्न आदि वंद्य न हों यह क्यों ? यह तो अज्ञानी का ही पक्षपात है।

आपके द्वारा मानी गई तत्त्व व्यवस्था ही ठीक नहीं है पुनः उसके उपदेशक बुद्ध सर्वज्ञ कैसे होंगे ! आपके यहां प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण विनाशी एवं परमाणु रूप मानते हैं। जो कि प्रत्यक्षज्ञान से अनुभव में नहीं आते हैं।

इन बौद्धों में योगाचार बौद्ध केवल 'विज्ञानमात्र' तत्त्व को मानते हैं बाह्य पदार्थों को नहीं मानते हैं। उनकी इस मान्यता से सुगत की सिद्धि ही असंभव है क्योंकि ज्ञान से भिन्न सुगत को मानने से द्वैत आता है और संवृति से सुगत की कल्पना करने से वह स्वप्न के सदृश होने से नमस्कार योग्य नहीं रहता। तथैव चित्राद्वैतवादी की मान्यता भी गलत है क्योंकि चित्र ज्ञान भी कहें और उसे एक अद्वैत भी कहें यह असंभव है। चित्रज्ञान का अर्थ ही है अनेक ज्ञान न कि एक ज्ञान। यदि आप कहें कि क्षणभंगुर वस्तु में और अद्वैत में जो स्थायी रहना या द्वैत रूप दिखना है वह संवृति मात्र है। तब तो आपका बुद्ध भी कल्पना से ही सर्वज्ञ होगा, पुनः वास्तव में सर्वज्ञ न होने से कल्पित-असत्य मान्यता अपने आप में कल्पित असत्य ही है।

ब्रह्माद्वैतवादी के ब्रह्म की समीक्षा

ब्रह्माद्वैतवादी इस जगत् को एक परम ब्रह्म स्वरूप मानते हैं उस ब्रह्म की ही उपासना करते हैं। ये लोग प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से ब्रह्म की सिद्धि कर रहे हैं। उनका कहना है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस ब्रह्म का ग्राहक है ही क्योंकि आंख खोलने के अनंतर सर्वविकल्पों से रहित शुद्ध सत्तामात्र ब्रह्म ही भलकता है। अनुमान भी परम ब्रह्म को ही सिद्ध करता है। 'ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात् । यःप्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभासंते च विवादापन्नाः इति' ग्राम और उद्यान आदि सभी दिखलाई देने वाले पदार्थ प्रतिभास-परम ब्रह्म के अंतःप्रविष्ट हैं, क्योंकि वे प्रतिभासमान होते हैं। जो प्रतिभासित होता है, वह सर्व प्रतिभास के अंतःप्रविष्ट है, जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप। विवादापन्न ग्राम और उद्यान आदि प्रतिभासित होते हैं, इसलिये वे सभी परमब्रह्म के ही स्वरूप हैं। इस परमब्रह्म को सिद्ध करने के लिये श्रुति-वाक्य भी अनेकों पाये जाते हैं।

“सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन” ॥

सभी दृश्यमान पदार्थ ब्रह्म स्वरूप हैं इससे भिन्न जगत् में नाना पदार्थ कुछ नहीं हैं । हम सभी लोग उस ब्रह्म की पर्यायों को ही देखते हैं, किन्तु उसे कोई नहीं देखते हैं ॥ इत्यादि रूप से ब्रह्मवादी अपना पक्ष स्थापित करते हैं । अब आचार्य कहते हैं कि आपने जो परमब्रह्म को प्रत्यक्ष का विषय कहा है वह गलत है क्योंकि विशेष से निरपेक्ष सामान्य मात्र का प्रत्यक्षज्ञान से अनुभव होना ही अशक्य है । जो आपने अनुमान से ब्रह्म को सिद्ध किया है उसमें प्रश्न यह होता है कि 'प्रतिभासित होने वाले धर्मी, हेतु दृष्टान्त आदि प्रतिभासरूप ब्रह्म के अंतःप्रविष्ट होकर (भीतर घुसकर) प्रतिभासित होते हैं या ब्रह्म से बहिर्भूत रहकर ही प्रतिभासित होते हैं ? यदि अंदर होकर प्रतिभासित होते हैं तब तो अनुमान नहीं बनेगा । अनुमान में साध्य, हेतु, उदाहरण अवश्य होने से द्वैत आ जावेगा । यदि बहिर्भूत होकर प्रतिभासित होते हैं कहो, तो स्पष्ट ही द्वैत हो गया । आपने अद्वैत को सिद्ध करने के लिये अनुमान बनाया, उसने द्वैत को ही सिद्ध कर दिया ।

आगम आदि भी ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि विकल्प उठते रहने से आपका ब्रह्माद्वैत सिद्ध नहीं होगा । एवं उस ब्रह्म से सृष्टि की मान्यता कहना तो बिल्कुल ही असंभव है । एक परमब्रह्म रूप चैतन्य आत्मा से अनेकों चेतन अचेतन रूप जगत् को उत्पन्न हुआ मानना गलत है । अतः परमब्रह्म को आप्त भगवान् कहना सर्वथा गलत है ।

उपसंहार— इस प्रकार महेश्वर, कपिल, सुगत और परमब्रह्म इनके सर्वज्ञत्व और आप्तपने का अभाव होने से मोक्षमार्ग का प्रणयन नहीं बनता है और जो सर्वज्ञ हैं, कर्म पर्वतों के भेत्ता हैं, मोक्ष मार्ग के प्रणेता हैं वे अर्हत ही हैं वे ही सच्चे आप्त हैं ।

चार्वाक—

चार्वाक कहता है कि “कोई पुरुष सर्वज्ञ है” यह बात किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है । आगम प्रमाण से सर्वज्ञ का अस्तित्व बतलाना योग्य नहीं है, क्योंकि जब सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं तब उसका कहा हुआ आगम कैसे होगा ? एवं असर्वज्ञप्रणीत आगम से सर्वज्ञ को सिद्ध करना गलत है क्योंकि अल्पज्ञ का कहा हुआ आगम प्रमाणिक नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि इस समय यहां सर्वज्ञ नहीं है यह बात प्रत्यक्ष से स्पष्ट है । अनुमान से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं होता क्योंकि सर्वज्ञ के साथ जिसका अविनाभाव हो ऐसा कोई साधन नहीं है अतः कोई पुरुष तीर्थंकर आप्त सर्वज्ञ भगवान् नहीं है । न उनके द्वारा कथित आत्मा और परलोक आदि ही हैं ।

इसपर जैनाचार्य कहते हैं कि आज भले ही इंद्रिय प्रत्यक्ष से यहां पर सर्वज्ञ न हो फिर भी सर्वज्ञ के प्रतिपादक आगम एवं अनुमान सिद्ध हैं यथा—‘कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्व-
[भावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययत्वात्, यद् यद् ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययं तत् तत्

सकलपदार्थसाक्षात्कारी यथा अपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि, तथा चायं पुरुषः तस्मात्सकलपदार्थ-
साक्षात्कारी इति" [विश्वत० प्र० पृ० ४]

'कोई पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला अवश्य है, क्योंकि उसके पदार्थों का ग्रहण स्वभाव होने से ज्ञान के प्रतिबंधक कारण नष्ट हो चुके हैं। जो-जो पदार्थ के ग्रहण स्वभाव वाला होने पर प्रतिबंधक कारण से रहित है वह-वह सकल पदार्थों को साक्षात् करने वाला है जैसे तिमिर दोष से रहित नेत्र रूप का साक्षात्कार करने वाले हैं और उसी प्रकार से यह कोई पुरुष है इसीलिये सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला है।

दूसरी बात यह है कि जब चार्वाक प्रत्यक्ष से सारे विश्व को देखकर आवे कि कोई सर्वज्ञ नहीं है तभी वह निर्णय दे सकता है कि विश्व में कहीं भी कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है अन्यथा सारे विश्व को देखे बिना कैसे निर्णय देगा ? और जब सारे विश्व को देखकर आयेगा तब वही तो सर्वज्ञ बन जायेगा क्योंकि जो सारे विश्व को जाने वह सर्वज्ञ है। पुनः सर्वज्ञ का निषेध वह कैसे करेगा, अर्थात् नहीं कर सकेगा।

मीमांसक —

मीमांसक भी यही कहते हैं कि अतीन्द्रियदर्शी कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, अतः नित्य वेदवाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है, किन्तु जैनाचार्यों ने इन मीमांसकों के मत की भी मीमांसा करके सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

कुमारिल भट्ट कहता है कि — 'धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद् विजानानः पुरुषः केन वार्यते' अर्थात् हम तो मनुष्य को केवल धर्मज्ञ होने का निषेध करते हैं। धर्म को छोड़कर यदि मनुष्य सबको भी जान ले तो कौन मना करता है ? मतलब यह है कि ये मीमांसक किसी को सब कुछ जानने वाला कहकर भी धर्मज्ञ का निषेध कर देते हैं, इनको वेद के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना सिद्ध करना है क्योंकि ये क्रियाकांडी लोग वेद को अपौरुषेय कहकर उसकी प्रामाण्यता को सिद्ध करने में बहुत ही प्रयत्नशील हैं। खैर ! 'सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती आदि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला, अतीन्द्रिय-धर्म, अधर्म आदि सभी को स्पष्ट करने वाला सर्वज्ञ अवश्य है।'

अकलंकदेव ने सर्वज्ञत्व के साधन में अनेकों युक्तियों के साथ एक युक्ति बहुत विशेष दी है कि 'सर्वज्ञ के सद्भाव में कोई बाधक प्रमाण नहीं है अतः उसका अस्तित्व होना ही चाहिए' एवं दूसरी युक्ति यह दी है कि— 'ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते । अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम् ॥

[न्यायविनिश्चय]

आत्मा 'ज्ञ'—जाता है और उसके ज्ञानस्वभाव को ढकने वाले आवरण दूर होते हैं। अतः आवरणों के विच्छिन्न हो जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिये फिर ज्ञेय-जानने योग्य क्या रह जाता है ? अर्थात्

कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञान से सकलार्थ परिज्ञान होना आवश्यक है। इसलिये सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध है।

सात्पर्य यह है कि चार्वाक शून्यवादी और मीमांसक सर्वज्ञ का अस्तित्व ही नहीं मानते हैं एवं सोम्य बौद्ध वैशेषिक वेदांती ईश्वर का अस्तित्व मानते हैं किन्तु उनकी मान्यतामें सुधमिल नहीं है इसलिये सबका निराकरण करते हुये जेनाचार्य मुक्तिपूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि कर रहे हैं।

जेन—

सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां बद्धः समबलिष्ठते ।

तत्सद्भावे प्रमाणास्य निर्बाध्यस्य विनिश्चयात् ॥२७॥

ततोऽन्तरितत्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽप्यज्ञता ।

प्रमेयत्वाद्यथास्मादृक् प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः ॥२८॥ [अन्तरोक्ष]

जो सर्वज्ञ हैं, कर्म पर्वतों के भेत्ता हैं, मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं, वे अर्हत ही हैं और इसलिये वे ही मुनीश्वरों के बंदनीय प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये अबाधित और निश्चित प्रमाण पाये जाते हैं। 'एवं ईश्वर आदि सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिये सूक्ष्मादि, अन्तरित पदार्थ अर्हत के परमार्थतः प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं जैसे हम लोगों के द्वारा जाने गये प्रत्यक्ष पदार्थ।'।

शंका—“आत्मा का इन्द्रियों के साथ समीचीन सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है।” अतः हम लोगों का प्रत्यक्ष ज्ञान उन देशकाल और स्वभाव से अन्तरित (दूरवर्ती) पदार्थों को नहीं जानता है अतः धर्मों अस्तित्व होने से हेतु आध्यात्मसिद्ध है।

समाधान—नहीं, क्योंकि स्फटिक आदि अन्तरित कितने ही पदार्थों का सद्भाव हम लोग देखते हैं। और दीवाल आदि से ढकी हुई अग्नि आदि को भी घूमादि हेतु से निश्चित कर लेते हैं। काल से अन्तरित वर्षा आदि को भी विशिष्ट मेघ आदि के द्वारा जानते हैं तथा स्वभाव से अन्तरित इन्द्रिय-शक्ति आदि कितने ही पदार्थ अर्थापत्ति से सिद्ध होने से धर्मों प्रसिद्ध है अतः हेतु आध्यात्मसिद्ध नहीं है।

शंका—आप अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से अन्तरित पदार्थों को अर्हत के सिद्ध करते हो या इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ?

समाधान—अर्हत भगवान् इन्द्रिय प्रत्यक्ष से धर्मादिक सूक्ष्म पदार्थ एवं सुमेरु आदि दूरवर्ती पदार्थों को जानने में समर्थ नहीं हैं। अतः अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही जानते हैं।

शंका—जो अर्हत के प्रत्यक्ष नहीं है वह प्रमेय नहीं है जैसे प्रत्यक्ष से बहिर्भूत मिथ्या एकान्त।

समाधान—जो मिथ्या एकान्त ज्ञान है वे सभी परमागम और अनुमान से हम लोगों के प्रमेय हैं और अर्हत के प्रत्यक्ष हैं अतः वे विपक्ष नहीं हैं।

शंका—धर्मादिक पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष नहीं हैं, क्योंकि सदैव अत्यन्त परोक्ष है। जो किसी के प्रत्यक्ष हैं वे सदैव अत्यन्त परोक्ष नहीं हैं। जैसे घटादिक पदार्थ।

समाधान—“अक्षणोति द्यप्नोति जानाति इति अक्ष आत्मा” अर्थात् जो व्याप्त करे जाने उसे अक्ष कहते हैं और अक्ष नाम आत्मा का है। अतः आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अर्हत का प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष है, वह सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को विषय करने वाला है। क्योंकि वह क्रम रहित है। और वह क्रम रहित इसीलिए है कि उसमें मन तथा इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है। इन्द्रिय मन की अपेक्षा भी इसीलिए नहीं है कि वह समस्त दोष रहित है तथा मिथ्यात्व अज्ञानादि दोषों से रहित भी इसीलिए है कि वह इन दोषों के कारण भूत मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन चार कर्मों का नाश कर चुके हैं जो दोष रहित नहीं है वह कर्म रहित भी नहीं है जैसे हम लोगों का प्रत्यक्ष। मोहादि कर्म रहित अर्हत का प्रत्यक्ष है इस कारण वह समस्त दोष रहित है।

शंका—अर्हत के मोहादि का नाश कैसे सिद्ध है ?

समाधान—अर्हत के मोहादि चार कर्मों के कारणभूत मिथ्यात्व आदि के प्रतिपक्षियों का प्रकर्ष देखा जाता है। यथा—मोहादि चार कर्म किसी आत्मा विशेष में सर्वथा नष्ट हो जाते हैं क्योंकि जहाँ उनके कारणों के प्रतिपक्षी का प्रकर्ष पाया जाता है वहाँ उसका नाश हो जाता है। जैसे आंख का तिमिरदोष।

मोहादि चार कर्मों के कारणों के प्रतिपक्षियों का प्रकर्ष केवली में पाया जाता है इस कारण वहाँ उनका सर्वथा नाश हो जाता है।

शंका—मोहादि चार कर्मों का कारण क्या है ?

समाधान—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्य ये तीनों मोहादि चार कर्मों के कारण हैं।

शंका—मिथ्यादर्शनादि के प्रतिपक्ष (विरोधी) क्या हैं ?

समाधान—सम्यग्दर्शनादि तीन मिथ्यादर्शन आदि तीन के विरोधी हैं। क्योंकि उनके प्रकर्ष होने पर उन मिथ्यादर्शन आदि की हानि देखी जाती है। जिसके प्रकर्ष में जिसका अप्रकर्ष देखा जाता है वह उसका विरोधी है। जैसे—ठंड का प्रतिपक्षी अग्नि है एवं सम्यग्दर्शन आदि तीनों वृद्धिगत होने वाले हैं।

जो बढ़ने वाला है वह कहीं पर प्रकर्ष के अन्त को प्राप्त होता है। जैसेपरिमाण परमाणु से लेकर आकाश में चरम सीमा को प्राप्त है। अतएव सम्यग्दर्शनादि के पूर्ण प्रकर्ष को प्राप्त होने पर मिथ्यादर्शन आदि अत्यन्त नाश को प्राप्त हो जाते हैं। उनके नाश होने पर मोहादि चार कर्मों का अत्यन्त क्षय होने से अर्हत भगवान् दोष रहित सर्वज्ञ वीतराग सिद्ध हो जाते हैं। और मिथ्या एकांतों का अभाव तो अनेकांत की सिद्धि से ही हो जाता है।

शंका—अर्हत सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है पुरुष है जैसे ब्रह्मा वगैरह।

समाधान—ज्ञान के बढ़ने पर वक्तापन की हानि नहीं देखी जाती है। अतः वक्तापन सर्वज्ञता का

विरोधी नहीं है। सर्वज्ञ का जो समस्त पदार्थों को विषय करने वाला वक्त्यापन है वह युक्ति एवं शास्त्र से अविरोधी सिद्ध है। तथा स्पष्ट है कि समस्त अज्ञानादि दोष रहित पुरुषपना परमात्मा सर्वज्ञ में सिद्ध होता हुआ समस्त ज्ञानादि गुणों के परम प्रकर्ष की प्राप्ति को ही सिद्ध करता है। अतः आपका अनुमान सर्वज्ञ का बाधक नहीं है।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला कोई व्यक्ति पहले तीनों लोकों में एवं तीनों कालों में सबको देख कर यह निर्णय करे कि कोई भी सर्वज्ञ नहीं है तब तो वह स्वयं ही तीनों लोकों एवं तीनों कालों को जान लेने से सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है। यदि उसने तीनों लोकों एवं तीनों कालों को नहीं जाना तब वह यह निर्णय ही कैसे करेगा कि तीनों जगत में सर्वज्ञ नहीं है। अतः आप सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

शंका—कर्म कार्य-कारण रूप प्रवाह से प्रवर्तमान हैं इसलिए वे अनादि हैं। उनका विनाशक कारण न होने से कोई सर्वज्ञ भी कर्म पर्वत का भेत्ता नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अर्हत में विरोधी सम्यग्दर्शन आदिकों की वृद्धि चरम सीमा को प्राप्त हो जाती है, तब प्रवाहरूपसे अनादि होने पर भी कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है। बीजांकुर की अनादि संतान भी प्रतिपक्षी अग्नि से जलकर खाक हुई देखी जाती है।

शंका—कर्म पर्वतों का विपक्ष क्या है ?

समाधान—आगामी कर्मों का विपक्ष संवर है और संचित कर्मों का विपक्ष तप से होने वाली निर्जरा है। अर्थात् कर्मों के आने के द्वार का रुक जाना संवर है। और कर्मों के वे द्वार पांच हैं—

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग। इनके होने पर कर्म आते हैं अतः ये आश्रव हैं। आश्रव का निरोध संपूर्णतया तो गुप्तियों से होता है। एक देश रूप समिति, धर्म, परीषहजय, अनुप्रेक्षा और चारित्र्य से होता है। और संपूर्ण रूप से योग निरोध रूप संवर तो अयोग-केवली के अंतिम समय में होता है क्योंकि वही समस्त कर्मों के निरोध का कारण है। इसीलिए अयोग-केवली के अंतिम समयवर्ती सम्यग्दर्शन आदि तीनों साक्षात् मोक्ष के कारण माने जाते हैं। निर्जरा भी दो प्रकार की है :—

(१) अनुपक्रमा (२) औपक्रमिकी।

अनुपक्रमा निर्जरा तो यथा समय हर एक संसारी जीवों में पाई जाती है और औपक्रमिकी बारह प्रकार के तपों से प्राप्त (सिद्ध) होती है। अतः संवर और निर्जरा से कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

शंका—कर्म पर्वत क्या हैं ?

समाधान—कर्म के दो भेद हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म।

जीव के जो द्रव्य कर्म हैं वे पौद्गलिक हैं उनके अनेक भेद हैं। और जो भाव कर्म हैं वे आत्मा के चैतन्य परिणाम रूप हैं क्योंकि आत्मा से कथंचित् अभिन्न हैं वे क्रोधादिक हैं।

ये द्रव्य-भाव कर्म ही पर्वत नाम से कहे जाते हैं। उनको जीव से पृथक् करना ही उनका भेदन है।

शंका—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, ये चार घातिया कर्म जीव के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य रूप गुणों के घातक हैं। किंतु नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार कर्म जीव के स्वरूप के घातक न होने से अघाति कर्म, कर्म नहीं हैं क्योंकि ये परतंत्रता के कारण नहीं हैं।

समाधान—नहीं। नामादि अघाति कर्म भी जीव के स्वरूप-सिद्धत्व रूप के प्रतिबंधक हैं अतः परतंत्रता के कारण प्रसिद्ध ही हैं।

शंका—पुनः इन्हें अघाति क्यों कहा है ?

समाधान—ये जीवन्मुक्त उत्कृष्ट आर्हत्य लक्ष्मी-अनन्त चतुष्टयादि विभूति के घातक नहीं हैं इसी-लिए इन्हें हम अघाति कर्म कहते हैं।

शंका—कर्म, धर्म-अधर्म रूप हैं और वे आत्मा के गुण हैं अतः कर्म औदयिक एवं पुद्गल रूप नहीं हैं।

समाधान—यदि कर्म आत्मा के गुण हैं तो आत्मा की परतंत्रता में कारण नहीं हो सकते हैं और इस तरह आत्मा के कभी भी बंध न हो सकने से उसके मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा, किंतु ऐसा है नहीं।

शंका—मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

समाधान—समस्त कर्मों की संवर और निर्जरा होकर जो अपने स्वरूप का लाभ होता है उसे ही आस्तिक पुरुषों ने मोक्ष कहा है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप अनंत चतुष्टय आदि रूप है न कि अचेतन रूप।

शंका—मोक्ष मार्ग क्या है ?

समाधान—मोक्ष की प्राप्ति का उपाय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकता ही है। और चौदहवें गुणस्थान के अन्त में परम शुक्ल ध्यान रूप तपोविशेष जो कि चारित्र के अंतर्गत है उसकी पूर्ति होने पर ही मोक्ष होता है रत्नत्रय की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्त में ही होती है, अतः तीनों की एकता ही मोक्ष मार्ग है।

अतः मोक्ष में ज्ञानादि गुणों का उच्छेद नहीं होता है प्रत्युत अनंत ज्ञान अव्याबाध सुखादि गुणों की पूर्ण प्रगटता हो जाने से यह जीव कृतकृत्य सिद्ध हो जाता है इस प्रकार से अर्हत में सर्वज्ञता की सिद्धि घटित होती है अन्यत्र नहीं होती है।

इस प्रकार आप्तकी समीक्षा करते हुये अर्हत को ही आप्तता सिद्ध होती है।

तत्त्व समीक्षा

तत्त्व विचार

साक्षात्कृत पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों को ही चार तत्त्व मानता है इन भूत चतुष्टय से ही आत्मा इन्द्रिय आन और मन आदि की उत्पत्ति मानता है इसलिए जड़वादी है।

बौद्ध कहता है कि आकाश, चित्त संज्ञान की उत्पत्ति तथा चित्तसंज्ञान की उच्छिष्टि ये तीन तत्त्व असंस्कृत तथा विलय हैं। बाकी सब तत्त्व संस्कृत, अणिक, कर्ता से रहित हैं। [विश्व तत्त्व० पृ० २२५]

एवं इनके सहाय रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कंध माने गये हैं, इन पांच स्कंधों से ही सब कार्य होते हैं। और तो क्या इनके समूह से ही इन्होंने आत्मा की उत्पत्ति मानी है। अब तक इनकी समीक्षा रहती है तभी तक अनुष्य का अस्तित्व रहता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा मान की कोई कल्प नहीं है। [भारतोग्रह. पृ० ६०]

सांख्य—

सांख्य के सहाय पन्चोस तत्त्व हैं—प्रकृति, प्रकृति से महान् (बुद्धि) बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सोलह तत्त्व—पांच आर्सेन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, जसु, श्रोत्र पांच कर्मेन्द्रिय—वायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद एवं मन से म्यारह इन्द्रियां एवं रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्राएं ऐसे सोलह तत्व हैं। इन पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच महाभूत होते हैं। ऐसे ये प्रकृति, महान्, अहंकार, सोलह गण, पांच महाभूत मिलाकर चौबीस तत्त्व हुये ये अचेतन हैं एवं पुरुष तत्त्व चेतन है। ये चेतन-अचेतन मिलाकर पन्चोस तत्त्व होते हैं।

सैयामिक—

सैयामिक के मत में सोलह पदार्थ या तत्त्व हैं—

असाव, अमेय, संशय, अयोजन, कृत्तान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेतुवाचान, छल, आति एवं निग्रहत्याग ये सोलह तत्त्व हैं। इनके भी भेद अनेक अनेक हैं।

वैशेषिक—

वैशेषिक मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, ससवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं। इनमें से द्रव्य के नव भेद गुण के २४, कर्म के ५ भेद आदि पाये जाते हैं।

सौमंसिक के दो भेद हैं आभाकर और भाट्ट।

आभाकर सात पदार्थ मानते हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य, और संख्या।

भाट्टों से सात पदार्थ माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।

भाट्ट म्यारह द्रव्य मानते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, अहंकार और शब्द।

वेदांती—

वेदान्ती लोग ब्रह्मवादी हैं—ये लोग “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इस कथन से ‘एक ब्रह्ममात्र’ ही तत्त्व मानते हैं, अन्य कुछ भी नहीं मानते । उनका कहना है कि जगत् में जितने भी चेतन-अचेतन पदार्थ हैं वे सब ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुये हैं इत्यादि ।

जैन—

जैनाचार्यों ने इन सबकी मान्यता का न्यायदर्शन में निराकरण किया है । देखिये ! चार्वाक के द्वारा मान्य भूत चतुष्टय से विजातीय चैतन्य स्वरूप आत्मा की उत्पत्ति असंभव है ।

बौद्धों द्वारा मान्य भी पांच स्कंधों से चेतन-अचेतन कार्य मानना नितांत गलत है ।

सांख्य के पञ्चीस तत्त्वों में महान् शब्द से बुद्धि को लेकर उसे प्रकृति-अचेतन से उत्पन्न होना कहा है और पुरुष को अकर्ता मानकर एकांत से अकेली जड़ प्रकृति को ही सारे विश्व का कर्ता कहा है यह ठीक नहीं है ।

नैयायिक के द्वारा मान्य सोलह पदार्थों में संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, छल, हेत्वाभास, जल्प, वितण्डा आदि को पदार्थ में शामिल करना गलत है ।

वैशेषिक के सात पदार्थों में कर्म समवाय आदि चीजें पदार्थ नहीं हैं । गुण, धर्म, संबन्ध, क्रिया आदि को पदार्थ कहना ठीक नहीं है ।

मीमांसक ने तो परतन्त्रता, अंधकार, सदृशता आदि को भी पदार्थ कह दिया है । वास्तव में अंधकार आदि पदार्थ न होकर पर्यायें हैं ।

वेदांती के द्वारा मान्य ‘एक ब्रह्मतत्त्व’ तो असंभव ही है । अतः जैनाचार्यों द्वारा मान्य द्रव्य छह हैं—

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष । इन्हीं तत्त्वों में पुण्य पाप मिला देने से नव पदार्थ बन जाते हैं ।

आत्मसमीक्षा

आत्मा का विचार

चार्वाक—आत्मा का पृथक् रूप से अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं इनका कहना है कि भूत चतुष्टय से आत्मा का जन्म हुआ है । मरने के बाद आत्मा कोई चीज नहीं है अतः परलोक गमन, पुण्य, पाप आदि कार्य ये लोग नहीं मानते है इसीलिये ये ‘नास्तिक’ कहलाते हैं । वास्तव में स्वयं अपनी आत्मा के अस्तित्व को न मानकर उसका घात करना महा मूढ़ता है ।

बौद्ध—

‘विज्ञान स्कंध चित्त है इसी को आत्मा कर्ते हैं’ [सर्व. द. पृ. ३६] विज्ञान क्षणों का नाम आत्मा

है। काय चित्त और विज्ञान के समूह को आत्मा कहते हैं। मनुष्य एक समष्टि का नाम है जिस तरह चक्र, धुरी, नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं, उसी तरह बाह्य रूप युक्त मानसिक अवस्थाएँ और रूपहीन संज्ञा (विज्ञान) के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अंत हो जाता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अन्य दृष्टि से मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वों का एक संग्रह है। इसे पंच स्कंध कहते हैं उनके नाम हैं रूप वेदना संज्ञा, संस्कार और विज्ञान'। [भारतीयद० ६०] बौद्ध की यह कल्पना भी कल्पित होने से गलत है।

सांख्य—

सांख्य आत्मा को चेतन पुरुष मानते हैं एवं कूटस्थ, नित्य, निरतिशय अपरिणामी मानते हैं, कर्मों का कर्ता नहीं मानते किन्तु भोक्ता अवश्य मानते हैं, इनके यहां पुरुष को—अमूर्त, निर्गुण, भोक्ता, नित्य सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, सूक्ष्म और चेतन माना है। तथा ज्ञान से रहित माना है एवं ज्ञानसहित प्रधान के संसर्ग से ज्ञानी माना है। आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय अमूर्त आदि मानना एवं ज्ञानरहित मानना गलत है।

नैयायिक—

नैयायिक का कहना है कि आत्मा, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञानादि गुणों का आश्रय होता है, चेतनत्व, कर्तृत्व, सर्वगतत्व आदि धर्मों से आत्मा की प्रतीति होती है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग के साधन भूत पाँच इन्द्रियां हैं। रूप, रस आदि पंचेन्द्रियों के विषय रूप अर्थ हैं। [षड् द० पृ० १०७] इतना सब कुछ मान करके भी नैयायिकों ने आत्मा में द्रव्यत्व के समवाय से आत्मा को द्रव्य माना है एवं ज्ञान के समवाय से ज्ञानी माना है यह समवाय सम्बन्ध की व्यवस्था गलत है क्योंकि समवाय के पहले आत्मा क्या है और ज्ञान कहां है? यदि दोनों ही पृथक् २ कभी भी किसी के दृष्टि-गोचर हों तब तो उनका संबंध भी माना जावे। एवं आत्मा को सर्वगत मानना भी असम्भव है क्योंकि आत्मा स्वदेह परिमाण ही है।

वैशेषिक—

'आत्मा जीवोऽनेको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च' [षड् द० पृ० ४०६] आत्मा जीव है अनेक है नित्य अमूर्त और व्यापक द्रव्य है। 'ज्ञानाधिकरणमात्मा, स द्विविधः -जीवात्मा परमात्मा चेति'। जिस द्रव्य में समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है क्योंकि, आत्मा में ज्ञान समवाय संबंध से रहता है। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा, परमात्मा। परमात्मा ईश्वर सर्वज्ञ एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, व्यापक और नित्य है। [तर्क संग्रह]

अर्थात् नैयायिक के समान वैशेषिक ने भी आत्मा में स्वतः ज्ञान गुण नहीं माना है किन्तु समवाय से माना है अतः उसके यहां भी आत्मा ज्ञान शून्य है एवं आत्मा को सर्वथा व्यापक और नित्य मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।

मीमांसक —

मीमांसक जन जीव का लक्षण पूर्वोक्त मानकर भी समवाय नहीं मानते हैं एवं 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः' इस नियम से 'स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निहोत्र यज्ञ करे' ऐसे क्रिया काण्ड, यज्ञ अनुष्ठान आदि से आत्मा को स्वर्ग मानते हैं किन्तु जीव का कर्म से रहित होकर शुद्ध होना नहीं मानते हैं ये लोग जीव को हमेशा कलंक कालिमा सहित अशुद्ध ही मानते हैं । अतएव इन्होंने सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करके अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद वाक्यों से मान लिया है ।

इन मीमांसकों में भाट्ट, प्राभाकार और वेदांती ऐसे तीन संप्रदाय हो गए हैं । भाट्ट, प्राभाकार क्रियाकाण्ड को प्रमुख कहते हैं । किन्तु वेदांती 'सारे जगत को एक परमब्रह्म' रूप ही मानते हैं और चेतन अचेतन को उस ब्रह्म की पर्याय सिद्ध करते हैं । किन्तु यह मान्यता गलत है, आत्मा शुद्ध हो सकती है एवं एक ब्रह्म की पर्याय न होकर प्रत्येक आत्मा निश्चय नय से परम ब्रह्म स्वरूप है ।

किन्हीं-किन्हीं ने आत्मा को 'वटकणिका मात्र' माना है किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा को बट बीज के समान मानकर सारे शरीर में संचार माना जाए, तब ऐसे मानने वालों को मन के माध्यम से सुख का अनुभव होगा । शरीर के जिस प्रदेश में आशुगति से आत्मा का संचार होगा, उस समय उस प्रदेश में मन का नया-नया सम्बन्ध मानना पड़ेगा ।

अणु परिमाण ज्ञानाश्रय जीव है । 'तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम् ।' "वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते" । "आराग्रमात्रः पुरुष एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" ।

आत्मा का अणुत्वश्रुति प्रसिद्ध है । केश के अग्रभाग के प्रथम सौ टुकड़े करके पश्चात् एक-एक के सौ-सौ टुकड़े करने से एक भाग का जो परिमाण हो वह जीव का परिमाण है ऐसे जीव अनन्त हैं और जीव रूप पुरुष आरे के अग्र भाग के समान सूक्ष्म हैं । आत्मा-जीव अणु परिमाण चक्षु आदि इन्द्रियों से अग्राह्य केवल मन से जानने योग्य है ।" [सर्वदर्शन से० रामानुजदर्शन पृ० १०६] यह सब मान्यता विवेक शून्य है क्योंकि आत्मा स्वदेह परिमाण है यह बात अनुभव सिद्ध है ।

जैन —

जैनाचार्यों ने उपर्युक्त मान्यताओं का विशेष रीति से खण्डन करके जीव का लक्षण स्थापित किया है । यथा— 'उपयोगो लक्षणं' 'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।' [तत्त्वार्थसूत्र द्वि० अ० सूत्र ८-६]

जीव का लक्षण उपयोग है । चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं । उसके दो भेद हैं—

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यत्र और केवल ये पांच ज्ञान एवं कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये ३ कुज्ञान ये आठ ज्ञानोपयोग हैं । चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार दर्शनोपयोग हैं ।

जीव का लक्षण चेतना है ज्ञानदर्शन को ही चेतना कहते हैं । जैनाचार्यों ने अन्यत्र जीव का लक्षण किया है—

जीवो उवमोगममो अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।

भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥ [द्रव्यसंग्रह]

जीव—जो तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप द्रव्य प्राणों से एवं चेतना लक्षण भाव प्राणों से । अजीवत् जीवति जीविष्यति इति जीवः जीता था, जीता है, जीयेगा वह जीव है, यह उपयोगमयी है—ज्ञान दर्शन स्वरूप है कथंचित् अमूर्तिक है, कर्ता है स्वशरीर प्रमाण है, भोक्ता है, संसारी है । सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है ॥

‘संसारिणो मुक्ताश्च’ [तत्त्वार्थ सूत्र]

जीव के संसारी और मुक्त की अपेक्षा दो भेद होते हैं कर्म सहित जीव संसारी हैं, कर्म बंधन से रहित जीव मुक्त जीव कहलाते हैं । जैन सिद्धांत में कर्मों के निमित्त से जीव का ज्ञान गुण ढका रहता है पूर्ण प्रगट नहीं होता है धीरे-धीरे अपने आवरण कर्म का क्षयोपशम होते-होते ज्ञान गुण प्रगट होता चला जाता है जब पूर्ण ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तब पूर्ण ज्ञान प्रगट होकर यह आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी-ज्ञाता द्रष्टा कहलाने लगता है ।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।

उपेयात्तत्र परमं मध्योपायात् बहिस्त्यजेत् ॥४॥ [समाधितंत्र]

बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा के तीन भेद होते हैं । उसमें परमात्मा उपादेय—प्राप्त करने योग्य है एवं अंतरात्मा उपाय भूत है—परमात्मा को प्राप्त कराने वाला है । और बहिरात्मा त्यागने योग्य है । इस प्रकार ‘अहं’ प्रत्यय से अनुभव में आने वाला आत्मा सभी जीवों को स्वसंवेदन अनुभव से सिद्ध है ।

ज्ञान का विचार

चार्वाक—

‘तदिह विज्ञानघन एवन्तेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति स न प्रेत्यसंज्ञास्तीति तत् चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा’ [सर्वदर्श० पृ० ३]

विज्ञान स्वरूप आत्मा इन चार भूतों से उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो जाता है, मरने पर परलोक

में कोई नाम नहीं रहता, चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है। अर्थात् भूत चतुष्टय से आत्मा उत्पन्न होता है ज्ञान भी भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ है वह अस्वसंविदित है।

सांख्य—

‘ततः संजायते बुद्धिमहानिति यकोच्यते’ [षड् द० पृ० १४५]

‘इस प्रकृति से महान्—बुद्धि उत्पन्न होती है’

इससे स्पष्ट है कि सांख्य ज्ञान को अचेतन प्रधान का धर्म कहते हैं उनका कहना है कि ज्ञान के आधय भूत प्रधान का जब आत्मा में संसर्ग होता है तब आत्मा ज्ञानी दिखता है। वास्तव में सर्वज्ञता प्रधान को ही है। मुक्ति में प्रधान का संसर्ग छूट जाने से आत्मा में ज्ञान नहीं रहता है आत्मा सुपुष्ट चैतन्यवत् हो जाती है।

नैयायिक—

‘एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यं ज्ञानं’ [षड् द० १३७]

आत्मा में ज्ञान के समवाय से ज्ञान रहता है और वह भी ज्ञानान्तर वेद्य है। ज्ञान स्वयं अस्वसंविदित है अन्य ज्ञानों से जाना जाता है। ‘नैयायिक ज्ञान को दूसरे ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होना मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान प्रमेय है इसलिये ज्ञानान्तर वेद्य है जो प्रमेय होता है वह दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाता है जैसे घट पट आदि प्रमेय’। किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान ज्ञानान्तर से वेद्य माना जावे तो महेश्वर के ज्ञान से अनैकांतिक दोष आवेगा। जैन सिद्धांत में तो ज्ञान स्वयं सबको जानता है अतः ज्ञान है एवं स्वयं को भी जानता है अतः ज्ञेय-प्रमेय भी है कोई बाधा नहीं है एवं वह समवाय से आत्मा में नहीं आता है बल्कि आत्मा का ही गुण है। ज्ञान से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है।

वैशेषिक—

नैयायिक और वैशेषिक दोनों ने ही ज्ञान को अस्वसंवेदी माना है। इनकी मान्यता है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है, किंतु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। ये दोनों लोग धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। ये दोनों ही पदार्थ और आलोक को ज्ञान का कारण कहते हैं। किंतु जैनाचार्यों ने ज्ञान को स्वसंविदित ही सिद्ध किया है।

प्राभाकर—

प्राभाकर मतानुयायी ज्ञान को अप्रत्यक्ष ही मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान न तो स्वयं जाना जाता है, और न ज्ञानान्तर से ही जाना जाता है। ये प्राभाकर आत्मा और ज्ञान दोनों को अत्यन्त परोक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि प्रमिति जानना यह क्रिया और जानने योग्य घट पट आदि पदार्थ कर्म हैं वे ही प्रत्यक्ष हैं आत्मा, कर्ता और ज्ञान करण है वह परोक्ष ही है। किंतु जैनाचार्यों ने आत्मा और ज्ञान दोनों को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष सिद्ध किया है।

मीमांसक—

मीमांसक भी ज्ञान को परोक्ष कहते हैं किन्तु आत्मा को प्रत्यक्ष मान लेते हैं, इनका कहना है कि ज्ञान करण है इसलिए परोक्ष है। ज्ञान के द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं किन्तु ज्ञान स्वयं नहीं जाना जाता है।

'अहं ज्ञानेन घटं वेद्यं' में ज्ञान से घट को जानता हूँ, यहाँ कर्ता कर्म और क्रिया प्रत्यक्ष हैं, ज्ञान यह करण होने से परोक्ष है। किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि यदि आत्मा प्रत्यक्ष है तो ज्ञान को परोक्ष कैसे कहना? क्योंकि भावेन्द्रिय रूप लब्धि और उपयोग ही ज्ञान है जो कि आत्मा रूप है, आत्मा से भिन्न नहीं है अतः आत्मा को प्रत्यक्ष कहने से ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही सिद्ध हो जाता है।

बौद्ध—

बौद्ध ज्ञान को 'साकार' कहते हैं उनके यहाँ ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसके आकार को धारण करके ही उसको जानता है इसलिये ज्ञान तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसायरूप है। उनकी मान्यता है कि जैसे पुत्र पिता से उत्पन्न होकर पिता के आकार को धारण करता है। उसी तरह ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसी के आकार को धारण कर उसी को जानता है अन्य को नहीं, यदि ऐसा न मानें तो पदार्थों की व्यवस्था कैसे बनेगी? इन्होंने विज्ञान स्कंध को ही आत्मा माना है। एवं विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने ज्ञान परमाणुओं को पृथक्-पृथक् ही माना है। किन्तु जैनाचार्यों ने इस तदुत्पत्ति तदाकार ज्ञान का निराकरण कर दिया है। क्योंकि यदि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है तो पदार्थ के साथ ही ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक होना चाहिए किन्तु नहीं है मतलब पदार्थ के बिना भी ज्ञान होता है और पदार्थ के रहते हुये भी नहीं होता है इसलिए ज्ञान की तदुत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, तदाकार का भी निराकरण इसी से होता है तदध्यवसाय की कल्पना भी निर्मूल है। ज्ञान अपने क्षयोपशम विशेष से आत्मा में उत्पन्न होकर पदार्थों को अग्रह आदि विकल्पों से जानता है अतः सबिकल्प, साकारोपयोग भी कहलाता है। एवं क्षयोपशम विशेष से ही पदार्थों की व्यवस्था कर देता है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होकर भी इन्द्रिय के आकार का न होकर इन्द्रिय को नहीं जानता है। अतः आपका कथन दोष पूर्ण है।

जैन—

'ज्ञानपदेन प्रमातुःप्रमितेश्च व्यावृत्तिः अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि सम्यक्त्वं न तु ज्ञानत्वम्।

[न्याय दी. पृ. १०]

'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' में सम्यक् पद से मिथ्याज्ञानों का निराकरण किया है और 'ज्ञान' पद से प्रमाता-आत्मा, प्रमिति-जानना और 'च' शब्द से प्रमेय-ज्ञेय की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होने से ये प्रमाता प्रमिति प्रमेय-ज्ञाता ज्ञप्ति ज्ञेय सम्यक् तो हैं किन्तु इनमें ज्ञानत्व नहीं है।

"ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाधनश्चारिणशब्दः"

ये ज्ञान और दर्शन व्याकरण में करण साधन से बने हैं और चारित्र्य शब्द कर्म साधन है। अर्थात् दृश्यते अनेनेति दर्शनं। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं। चर्यते यत्तच्चारित्र्यं जिसके द्वारा अज्ञान किया जाय वह दर्शन है। जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है। जो आचरण किया जाय वह चारित्र्य है।

“कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवत् इति चेत् न तत्परिणामादग्निवत्”।

[राजवातिक पृ० ४]

प्रश्न—यदि जिसके द्वारा जाना जाय उस करण को ज्ञान कहते हैं तो 'जैसे कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते हैं' यहां कुल्हाड़ी और काटने वाले दोनों भिन्न हैं वैसे ही कर्ता आत्मा और करण ज्ञान इन दोनों को भिन्न मानना होगा ?

उत्तर—नहीं ! जैसे 'अग्नि उष्णता से पदार्थ को जलाती है' यहां अग्नि का उष्णत्व गुण अग्नि से पृथक् न होकर भी करण अर्थ में प्रयुक्त है। अतः कथंचित् अभेद में भी कर्ता, करण व्यवहार देखा जाता है। एवं भूतनय की दृष्टि से ज्ञान क्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है। अतः द्रव्य दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।

ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है जो कि सबसे निकुष्ट सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव में भी कुछ अंश में मौजूद रहता है। तथाहि—

'सुहृमणिगाद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।

हवदि हु सव्वजहणं णिच्चुग्घादं णिरावरणं ॥३२०॥

[गोम्मट. सार जी. पृ. १६६]

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्त जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को 'पर्याय' कहते हैं। इतना ज्ञान सदा ही निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है। यदि इस ज्ञान पर भी आवरण आ जावे तब तो ज्ञान के बिना जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा। अतः अतिसूक्ष्म ज्ञान वहां भी विद्यमान रहता है। एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति वृक्ष आदि में भी आत्मा के ज्ञान दर्शन गुण मौजूद हैं कर्मावरण से ढके हुये हैं कुछ-कुछ अंश प्रकट हैं ये ही बढ़ते-बढ़ते एक दिन पुरुषार्थ से पूर्ण हो जाते हैं। तब आत्मा केवली, सर्वज्ञ कहलाने लगता है। अतः ज्ञान गुण आत्मा का है इसी से आत्म ज्ञानी है। सभी मतावलम्बियों ने ज्ञान को अचेतन अथवा अस्वसंविदित माना है किंतु जैनाचार्यों ने ही ज्ञान को चेतनारूप स्वपर प्रकाशी सिद्ध किया है। आत्मा के अनन्त गुणों में एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो सारे गुणों का महत्व बताता है यदि ज्ञान गुण न हो तो अनन्त गुणों का मूल्यांकन और अनुभव कौन करावे ? अतः सभी गुणों में श्रेष्ठ ज्ञान गुण है। इसे ही प्रमाण कहते हैं।

इसका फल—

'ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनं' श्री पूज्यपाद स्वामी ने श्रुतभक्ति में ज्ञान का फल अच्युत सुख को प्राप्त करना कहा है।

वैसे न्याय ग्रन्थों में—‘अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलं’

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।

पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ [आप्त मीमांसा]

ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञान का अभाव होना है एवं परम्परा फल हेय वस्तु का त्याग उपादेय का ग्रहण एवं इन दोनों से रहित में उपेक्षा रखना है । श्री समंतभद्र स्वामी ने भी यही कहा है कि—

केवल ज्ञान का फल उपेक्षा है शेष ज्ञानों का फल ग्रहण और त्याग बुद्धि का होना है । अथवा शेष ज्ञानों का भी फल उपेक्षा और अपने विषय में अज्ञान का अभाव होना है ।

अतः ज्ञान को अचेतन भूत चतुष्टय का धर्म, या अचेतन प्रकृति का धर्म न मानकर चेतन आत्मा का ही धर्म मानना चाहिये । एवं अस्वसंविदित न मानकर स्वसंवेदी, स्वपर प्रकाशी मानना चाहिये ।

संसार तत्त्व का विचार

चार्वाक—

ते च जीव पुण्यपापादिकं न मन्यन्ते । चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते । केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पंचमं भूतमभिमन्यमानाः पञ्चभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति” । [षड्द० पृ० ४५०]

ये चार्वाक लोग आत्मा, पुण्य, पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के भगड़े में न पड़कर इनकी सत्ता का सर्वथा लोप करते हैं । इस संसार को पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टय रूप ही मानते हैं । कोई चार्वाक आकाश को भी पांचवां तत्त्व मानकर ‘जगत्’ को पांचभौतिक कहते हैं ।

‘यह जड़ जगत् चार प्रकार के भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है ।’ इस भूतचतुष्टय को आत्मा या संसार कहना गलत है । [भारतीय द० पृ० १६] यह बात पहले आ चुकी है ।

बौद्ध—

“संसरन्ति स्थानात् स्थानान्तरं भवाद् भवान्तरं वा गच्छन्तीत्येवंशीला संसारिणः स्कंधाः सचेतना अचेतना वा परमाणुप्रचयविशेषाः । ते च स्कंधाः वाक्यस्य सावधारणत्वात् पंचैवाख्याताः न त्वपरः कश्चिदात्माख्यः स्कंधोऽस्तीति” [षड्दर्शन पृ० ४०]

जो स्थान से स्थानान्तर को अथवा भव से भवान्तर को संसरण करें, गमन करें वे संसारी स्कंध हैं वे सचेतन या अचेतन परमाणुओं के प्रचय विशेष कहलाते हैं । वे स्कंध पांच ही होते हैं । इन पांच स्कंधों से भिन्न आत्मा नाम का कोई छठा स्कंध नहीं है । अर्थात् इन पांच स्कंधों में ही आत्मा नाम का व्यवहार होता है । ये पांचों स्कंध एक स्थान से दूसरे स्थान को या भव से भवान्तर को गमन स्वभाव वाले होने से-संसरणधर्मा होने से संसारी कहलाते हैं । इन्हीं संसारी पांच स्कंधों को ‘दुःख सत्य’ कहते हैं । रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इनके नाम हैं । ये पांचों स्कंध क्षणिक हैं एक क्षण तक ही ठहरते हैं ।

जिससे लोक में ‘मैं हूँ यह मेरा है’ इत्यादि अहंकार रूप ममकार रूप समस्त रागादि समूह उत्पन्न होता है उसे ‘समुदय’ कहते हैं । बौद्ध के मत में चार आर्य सत्य हैं । दुःख, समुदय, मार्ग, निरोध । इनमें

से आदि के दो तत्त्वों से संसार है एवं अंत के दो से मोक्ष होता है ये 'दुःख तत्त्व' और 'समुदय तत्त्व' संसार की प्रवृत्ति में निमित्त भूत हैं । [षड् दर्शन० पृ० ४३]

“य पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।

स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ॥

गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।

तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे ॥” [प्रमाण वा १।२।१६-२०]

जो पाँच स्कंधों में आत्मा को देखता है उसे यह मेरा है ऐसा नित्य स्नेह होता है, स्नेह से तृष्णा, तृष्णा से आत्मा के दोषों पर दृष्टि न जाना, गुण दिखाई देना, आत्मसुख में गुण देखने से उसके साधनों में ममकार होना, उन्हें ग्रहण करना, इत्यादि रूप से जब तक आत्मा का अभिनिवेश है तभी तक संसार है ।

किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि पंचस्कंध रूप आत्मा नहीं है ये बौद्ध एक ओर पृथ्वी आदि भूतों से आत्मा को मानने वाले चार्वाक का खण्डन कर रहे हैं । और दूसरी ओर रूप वेदना आदि स्कंधों से भिन्न आत्मा को मानना नहीं चाहते हैं । इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कंध चेतनात्मक हो सकते हैं क्योंकि अचेतन में ये चारों बातें असम्भव हैं । किन्तु रूपस्कंध को चेतन कहना चार्वाक के भूतात्मवाद से कोई अन्तर नहीं रखता है । अर्थात् बुद्ध भगवान का कहना है कि आत्मा क्या है इत्यादि कुछ मत सोचो, दुःख, दुःख के कारण उनके निरोध का ही विचार करो । इत्यादि रूप से बौद्ध अनात्मवादी ही हैं । उनका मान्य संसार गलत है, क्योंकि एक क्षण स्थिर रहने वाले दूसरे क्षण में नष्ट हो जाने वाले स्कंधों से क्या भवान्तर गमन होगा ? और क्या संसार बनेगा ? समझ में नहीं आता है ।

सांख्य—

मूल सांख्य तो हर एक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले प्रधान को भी भिन्न-भिन्न मानते हैं अतः इनके यहां अनन्त पुरुषों की तरह प्रधान-प्रकृति भी अनन्त है । किन्तु उत्तरकालीन सांख्य सभी आत्माओं से सम्बन्ध रखने वाला एक नित्य ही प्रधान मानते हैं । प्रकृति और आत्मा के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है । [षड्द० पृ० १४५]

पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है । प्रकृति के तीन गुणों की साम्यावस्था पुरुष के संयोग से नष्ट हो जाती है । जगत् की रचना इस क्रम से होती है, सत्त्व की अधिकता होने से प्रकृति से महान्—बुद्धि होती है, यह महान् ही विश्व का अंकुर है, इस बुद्धि के आठ रूप होते हैं धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक रूप हैं । तथा अधर्म, अज्ञान, विषयाभिलाष और अनैश्वर्य ये चार तामस रूप हैं । पुरुष का चैतन्य प्रकाश महान् पर पड़ने से महान् भी चेतन मालूम पड़ता है । इसी बुद्धि तत्व से मैं 'सुन्दर हूँ' इत्यादि अहंकार, अहंकार से षोडशगण और पाँच तन्मात्रा से पंचमहाभूत बन जाते हैं । इसी का नाम संसार है ।

किन्तु विचार करके देखा जाये तो यह संसार का लक्षण प्रत्यक्ष बाधित है क्योंकि जब आत्मा अकर्ता निर्गुणी निष्क्रिय और व्यापक है तब उसका प्रकृति से सम्बन्ध कैसे होगा ? एवं उसमें परिणामन हुये बिना दोनों के संयोग से संसार भी कैसे बनेगा ? आत्मा को व्यापक मानने से तो सबसे बड़ा प्रश्न यह होता है कि वह अखण्ड आत्मा व्यापक है तब सब आत्माओं का सम्बन्ध सबके शरीरों के साथ है पुनः अपने-अपने सुख-दुःख और भोग का नियम कैसे बनेगा ? एवं कूटस्थ नित्य निष्क्रिय आत्मा का परलोक गमन आदि असम्भव होने से संसार किसे कहेंगे ?

नैयायिक वैशेषिक—

नैयायिक और वैशेषिक ईश्वर को संसार का कर्ता, पोषक और संहारक मानते हैं। उनका कहना है कि—

“अज्ञो जंतुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥” [महा भा० वनप० ३०।२८]

अर्थात् यह विचारा संसारी अज्ञ प्राणी असमर्थ है अपने सुख-दुःख भोगने के लिये ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग तथा नरक में जाता है ।

इनके यहां भी प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों में से प्रमेय तत्त्व में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, परलोक, फल, दुःख और मोक्ष ये बारह भेद किये हैं आत्मा को व्यापक, नित्य भोक्ता आदि माना है। किन्तु बुद्धि-ज्ञान को आत्मा से पृथक् प्रमेय कहा है, उसका आत्मा में समवाय मानते हैं ।

‘ईश्वर ने विश्व का निर्माण शून्य से नहीं किया है, किन्तु परमाणु दिक्, काल, आकाश, मन, तथा आत्मा आदि उपादानों से किया है। जीव अपने-अपने पुण्य या पाप कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का उपयोग कर सकें, इसके लिये संसार की सृष्टि हुई है’ । [भारतीय द० पृ० २३]

वास्तव में विचार करके देखा जाय तो यह प्रत्येक प्राणी अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता है किसी ईश्वर को उसमें निमित्त मानना गलत है, इसका वर्णन ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खंडन में पहले किया जा चुका है। अतः नैयायिक वैशेषिक इन दोनों के द्वारा मान्य संसार तत्त्व गलत है ।

मीमांसक—

मीमांसक लोग भौतिक जगत् को मानते हैं। भौतिक जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है। मीमांसा बाह्य सत्तावादी है। किन्तु ये लोग किसी को जगत् का स्रष्टा परमात्मा ईश्वर नहीं मानते हैं, जगत् अनादि तथा अनंत है न इसकी कभी सृष्टि हुई है न प्रलय होगा। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वोपाजित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। कर्म एक स्वतंत्र शक्ति है

जिससे संसार परिचालित होता है। मीमांसा के अनुसार जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है, तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है। अतः इस लोक में किये गये कर्मों के फल का उपयोग परलोक में किया जाता है'। [भारतीय द० पृ० ३०]

ये मीमांसक भी परलोक को मानते हैं एवं 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्ग का इच्छुक अग्नि होत्र यज्ञ को करे। ऐसा प्रतिपादन करते हैं इसलिये ये आस्तिकवादी हैं किंतु ये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता या सर्वज्ञ नहीं मानते हैं ईश्वर के अस्तित्व को समाप्त करने वाले हैं इनके यहां सभी आत्मा सदा अशुद्ध संसारी ही रहते हैं।

किंतु वास्तव में यह कथन भी गलत है क्योंकि जीव कर्मबंध से छूटकर मुक्त होता है एवं वही ईश्वर सर्वज्ञ कहलाता है, भले ही वह सृष्टि का कर्ता नहीं है अतः मीमांसकों द्वारा मान्य भी संसार-तत्त्व गलत है।

वेदान्तवादी—

उत्तर मीमांसावादी वेदान्ती मात्र 'अद्वैत ब्रह्म' को ही मानते हैं 'सर्वमेतदिदं ब्रह्म' 'यह सब कुछ ब्रह्म है' उनका कहना है कि ब्रह्म ही सभी प्राणियों में भासमान है एवं अचेतन पदार्थों में भी वही ब्रह्म है। 'उपनिषदों में उसे सत् ब्रह्मन् वा आत्मन् कहते हैं। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित है तथा प्रलय होने पर इसी में विलीन हो जाता है। संसार का नागात्व-असत्य है, उसकी एक मात्र एकता ही सत्य है'। कुछ उपनिषदों में यह उल्लेख है कि ब्रह्म या आत्मा के द्वारा संसार की सृष्टि हुई है, किंतु अन्य उपनिषदों में यहां तक वेदों में भी संसार की सृष्टि की तुलना इंद्र जाल से की गई है। ईश्वर को मायावी माना गया है जो अपनी माया से संसार की रचान करता है।'

[भारतीय द० पृ० ३१]

परंतु जैनाचार्यों का कहना है कि एक अकेला ब्रह्म सब चेतन अचेतन रूप विश्व में व्यापक है सभी विश्व उस ब्रह्म की पर्यायें हैं। यह कथन सर्वथा असत्य है अन्यथा एक को सुख-दुःख होने पर दूसरे को भी सुख-दुःख उसी समय होना चाहिये था, अतः प्रत्येक आत्मा की भिन्न-भिन्न सत्ता मानकर उनका संसरण मानना ही संसार है।

जैन—

जैन सिद्धांत के अनुसार उपर्युक्त सभी के संसार तत्त्व के लक्षण बाधित हैं क्योंकि यह संसार अनादि निधन है, इसका कर्ता, धर्ता, पोषक एवं संहारक कोई भी ईश्वर परमात्मा आदि नहीं है। यह जीव स्वयं अपने कर्म का कर्ता और भोक्ता है, कर्म सहित होने से गतिनामकर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में परिभ्रमण करता रहता है। इस जीव के 'संसरण' का नाम ही संसार है। कहा भी है—

स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः । [अष्ट.स. पृ. ६३]

अपने पूर्वोपजित कर्म के निमित्त से आत्मा के भवांतर की प्राप्ति का नाम संसार है ।

पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः । [अष्टसहस्री. पृ. ६६]

पूर्वभव का परित्याग करके भवांतर का ग्रहण करना ही संसार है ।

जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्म के आठ भेद हैं । और उनमें भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के बंध से बंध के चार भेद हैं । 'इन कर्म बंध के निमित्त से आत्मा की भवांतर प्राप्ति को संसार कहते हैं' ।

“संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः । स एषामस्ति ते संसारिणः । तत्परिवर्तनं पंचविधं द्रव्यपरिवर्तनं, क्षेत्रपरिवर्तनं, कालपरिवर्तनं, भवपरिवर्तनं, भावपरिवर्तनं चेति ।” [सर्वार्थसिद्धि पृ. १६४]

संसरण करने को संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है । यह जिन जीवों के पाया जाता है वे संसारी हैं । परिवर्तन से पांच भेद है—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन । इनका विशेष विवरण सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में देखिये ।

अष्टसहस्री में ऐसा कहा है कि चार्वाक ने तो संसार माना ही नहीं है क्योंकि भवांतर गमन रूप संसार उनके यहाँ है ही नहीं । अन्य जनों के द्वारा मान्य संसार की व्यवस्था भी ठीक नहीं है क्योंकि बौद्धों ने सर्वथा सब कुछ क्षणिक—एक क्षण रहने वाला माना है एवं सांख्यों ने सर्वथा नित्य अपरिणामी माना है अतः इन लोगों के यहाँ भी भवांतर गमन रूप संसार की व्यवस्था असंभव है । स्याद्वाद मत में जीव को कथंचित् नित्य माना है और कर्मबंध से सहित होने से मूर्तिक, स्वशरीरप्रमाण माना है । एवं पर्यायार्थिक नय से जन्म-मरण सहित अनित्य भी माना है । जैसे—एक जीव मनुष्य पर्याय से मरकर देव-गति में जन्म लेता है वहाँ वही जीव है जो यहाँ मनुष्यगति में था अतः जीव द्रव्य की अपेक्षा वह ध्रौव्य है नित्य है, किन्तु मनुष्य पर्याय का नाश होकर देव पर्याय का उत्पाद हुआ है अतः पर्याय की अपेक्षा जीव अनित्य भी है । जीव के जन्म-मरण का व्यवहार एवं परलोक गमन भी लोक में सिद्ध है क्योंकि किसी को पूर्व जन्म स्मरण हो जाता है या पूर्व के संस्कार विशेष देखे जाते हैं । इस प्रकार से जैनाचार्य सम्मत संसार तत्त्व प्रसिद्ध है ।

भोक्ष तत्त्व का विचार

चार्वाक—

इनका कहना है कि भूतचतुष्टय से शरीर, आत्मा, इन्द्रिय और मन बन जाते हैं एवं शरीर के नष्ट होने के बाद समाप्त हो जाते हैं जीव नाम की कोई वस्तु अनादि अनन्त है ही नहीं पुनः मोक्ष की बात ही कहां रही ? 'आगमोऽपि न तत्प्रतिपादयितुं समर्थः तत्र प्रामाण्याभावात् आप्तो ह्यवंचकोऽभिज्ञः सोऽपि किंचिज्ज्ञत्वाल्लौकिकाथनिवान्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरादिभिरूपलभ्य प्रतिपादयति न तु जीवस्यानाद्यनन्तत्वादिकं ।' [विश्वत. प्र. पृ. ४]

आगम प्रमाण से भी जीव का अनादि अनन्त होना सिद्ध नहीं है क्योंकि 'आप्त पुरुष के वचन आदि को आगम कहते हैं' तथा जो ज्ञानी है अचंचक है उसे आप्त कहते हैं, वह आप्त चक्षु आदि इन्द्रियों से अन्वय व्यतिरेक को समझकर लौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर दूसरों को बतलाता है। जीव के अनादि अनन्तत्व का प्रतिपादन नहीं करता है। अतः जब न कोई सर्वज्ञ है न उनका आगम सत्य है तब मोक्ष का विचार करना सर्वथा गलत है क्योंकि जब आत्मा और परलोक गमन ही सिद्ध नहीं है तब मोक्ष की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार से यह चार्वाक मोक्ष तत्त्व को स्वीकार नहीं करता है।

बौद्ध—

'निरोधो निरोधनामकं तत्त्वं मोक्षोऽपवर्ग उच्यते । चित्तस्य निःक्लेशावस्थारूपो निरोधो मुक्ति-निगद्यते' । [षड् द. पृ. ५०]

मोक्ष या अपवर्ग को निरोध तत्त्व कहते हैं। अर्थात् अविद्या तृष्णा रूप क्लेश से रहित चित्त की निःक्लेश अवस्था रूप निरोध मुक्ति कहा जाता है। बौद्धों द्वारा मान्य चार आर्य सत्यों में यह 'निरोध' चौथा आर्य सत्य है।

'आयुरवसाने प्रदीपनिर्वाणोपमं निर्वाणं भवति । उत्तरचित्तस्योत्पत्तरभावात् यदप्युक्तं—

दीपो यथानिर्वृत्तिमभ्युपैति नैवारानि गच्छति नान्तरिक्षं ।

दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिं ॥

जीवस्तथा निर्वृत्तिमभ्युपैति नैवारानि गच्छति नान्तरिक्षं ।

दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् मोहक्षयात्केवलमेति शान्तिं ॥

[सौन्दरनन्द १६-२८, २६]

सौगतों के यहां 'आयु के क्षय हो जाने पर उत्तर चित्त की उत्पत्ति नहीं होती है अतः दीपक बुझने के समान चित्तसंतति का निर्वाण होता है।' कहा भी है—“जिस तरह दीपक बुझता है वह न पृथ्वी में जाता है, न आकाश में जाता है। दिशा या विदिशा में भी नहीं जाता है, सिर्फ तेल के खतम होने से शांत हो जाता है। उसी प्रकार जीव का निर्वाण होता है वह न पृथ्वी में जाता न आकाश में जाता है एवं न दिशा विदिशाओं में जाता है, सिर्फ मोह के खतम हो जाने से शांत हो जाता है।”

'रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपंचकस्कंधनिरोधादभावो मोक्षः इति । [राज. वा. पृ. २]

ये बौद्ध लोग, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कंधों के निरोध को मोक्ष कहते हैं।

इस बौद्ध की मान्यता के अनुसार 'अभाव' को मोक्ष कहना सर्वथा गलत है क्योंकि जब आत्मा और ज्ञान का ही अभाव हो जावेगा तब सुख किसको मिलेगा ? वास्तव में मोक्ष की इच्छा सुख के लिए है न कि सर्वनाश के लिए। अतः विचार की कोटि में बौद्ध का मोक्ष तत्त्व ठीक नहीं है। फिर इनके यहां क्षणिकवाद में आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है तब मोक्ष की कल्पना सुतरां समाप्त हो जाती है।

सांख्य—

‘प्रकृतेर्वियोगो मोक्षः पुरुषस्य’ [पद्दर्शन० पृ० १५३]

प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है। यह पुरुष के होता है। ‘गुणपुरुषान्तरापलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्त-
विवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः’ इत्यपरे—सांख्याः। [तत्त्वार्थवा० पृ० २]

सांख्य लोग प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान होने पर सुपुप्तपुरुष के विवेक के लुप्त हो जाने के समान अनभिव्यक्त चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा के अवस्थान को मोक्ष कहते हैं।

सांख्यों द्वारा मान्य यह मोक्ष लक्षण भी गलत है क्योंकि चैतन्य विशेषस्वरूप की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है यह मान्यता सत्य है। देखो ! प्रकृति का संयोग छूटने के बाद प्रकृति का ज्ञान और सुख मुक्ति में नहीं रहा ऐसा ये लोग कहते हैं, किन्तु यह गलत है। वास्तव में ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण आत्मा के हैं इन विशेष गुणों को प्रगट करके ज्ञाता द्रष्टा पूर्ण सुखी हो जाना मोक्ष है।

नैयायिक वैशेषिक—

‘बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणात्यंतोच्छेदो मोक्षः इत्यन्ये’ (वैशेषिकाः)
[तत्त्वार्थवा० पृ० २] नैयायिक और वैशेषिक लोग ‘बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव गुणों के अत्यन्त अभाव को मोक्ष कहते हैं।’

यह मान्यता तो बिल्कुल ही गलत है क्योंकि बुद्धि-ज्ञान और सुख का यदि मुक्ति में अभाव हो जावे तो बौद्धों के समान शून्य रूप ही ‘मुक्ति कल्पना’ सिद्ध हो गई। और कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा जो कि अपने ज्ञान और सुख को समाप्त करने के लिये मुक्ति को प्राप्त करना चाहेगा अर्थात् अपने सुख और ज्ञान को तिलांजलि देकर मोक्ष जाना कोई भी नहीं चाहेगा। हां ! इतना अवश्य है कि इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञान एवं साता वेदनीयजन्य इन्द्रिय सुख का मुक्ति में अभाव होकर अनंतज्ञान और अव्या-
बाध-बाधारहित सुख प्रगट हो जाता है यह बात वास्तविक है।

मीमांसक—

मीमांसक लोग न सर्वज्ञ मानते हैं न कोई सृष्टिकर्ता ईश्वर मानते हैं, वे तो वेद वाक्यों से ही अतीन्द्रिय धर्म-अधर्म आदि पदार्थों का ज्ञान होना घोषित करते हैं एवं इनके यहां भी जीवात्मा हमेशा असुद्ध संसारी ही रहता है कभी पूर्ण शुद्ध मुक्त नहीं होता है। अतः इनके यहां मुक्तितत्त्व का अभाव है।

वेदांतवादी—

‘ये लोग भी सारे विश्व को ‘परमब्रह्म’ स्वरूप मानते हैं अतः उस ब्रह्म की उपासना करके कोई भी व्यक्ति उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है पुनः किसी के मुक्ति की कल्पना ही असम्भव है। इसलिये इन वेदांतवादियों के यहां भी मोक्ष तत्त्व अघटित है। अथवा—

'अनंतसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्भोक्ष इत्यपरः सोऽपि युषत्या-
गमान्यां बाध्यते' । [षष्ठस० पृ० ६६]

'मुक्ति में अनंत सुख है ज्ञानादि नहीं हैं ऐसे आनन्द रूप एक स्वभाव की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है ऐसा इन वेदांतियों ने कहा है,' किन्तु यह मोक्ष लक्षण भी युक्ति और आगम से बाधित होता है ।

प्रश्न यह होता है कि अनंत सुख लक्षण मोक्ष को मानने पर ज्ञान के बिना उसका अनुभव कैसे होगा ? यहां भी देखा जाता है कि यदि किसी को मूर्च्छित कर दिया जाय पुनः उसका ऑपरेशन किया जाय तो उसे दुःख का अनुभव नहीं आता है अथवा यदि किसी का उपयोग दूसरी तरफ लगा हो और सुख साधन सामग्री रखी हो तो भी उसे सुख का अनुभव नहीं आता है अतः ज्ञान के बिना सुख का अनुभव न होने से मुक्ति में सुख मानना कैसे सिद्ध होगा ? क्या उनके सुख का अनुभव हम और आप को अपने ज्ञान से आ रहा है ? 'अनुभव नाम ज्ञान का है' यदि उन्हें सुख का अनुभव है मतलब सुख का ज्ञान है पुनः ज्ञान रहित मोक्ष कैसे रहा ? दूसरी बात यह है कि ब्रह्मवादियों के यहां मोक्ष की व्यवस्था कहने पर संसार की व्यवस्था भी माननी पड़ेगी पुनः द्वैत हो जाने से 'अद्वैत तत्त्व' समाप्त हो जावेगा ।

जैन—

"निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुख
मात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्षः इति" । [सर्वार्थ सिद्धि पृ० २]

जब आत्मा कर्ममल, कलंक और शरीर को अपने से जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं ।

'बंध हेत्वभावनिर्जराभ्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' [तत्त्वार्थ सूत्र दशम अ०] मिथ्यादर्शन आदि बंध के कारणों का अभाव और संचित कर्मों को निर्जरा इन दोनों कारणों से सम्पूर्ण कर्मों का आत्यंतिक वियोग हो जाना मोक्ष है ।

जैन सिद्धान्त में मुक्ति में अनंत गुणों का विकास माना है एवं अपने स्वभाव की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा है । मतलब आत्मा अनंत गुणों का पुंज है । 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' यह भी पूज्यपादस्वामी का वाक्य है अतः अपने आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि हो जाना ही सिद्धि है उसे ही मोक्ष कहते हैं ।

यद्यपि यह मोक्ष प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता है फिर भी आगम और अनुमान से उसका ज्ञान हो जाता है यथा—घटीयंत्र का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का घूमना उसमें जुते हुये बेल के घूमने पर । यदि बेल का घूमना बन्द हो तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयंत्र का घूमना बंद हो जाता है । उसी तरह कर्मोदय रूपी बेल के चलने पर ही चारगति

रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनाओं रूपी घटीयन्त्र को घुमाता रहता है कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुकने से संसाररूपी घटीयन्त्र का परिचलन समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है।

इसी प्रकार से आगम से भी मोक्ष की सिद्धि स्पष्ट है सभी शिष्टवादी—प्रास्तिकवादी लोग किसी न किसी रूप में 'मोक्ष' का अस्तित्व अवश्य ही स्वीकार करते हैं। एवं सभी वादियों ने सामान्यतया मोक्ष में 'दुःखों का विनाश हो जाना' या कर्मबंधन से छूट जाना ही स्वीकार किया है अतएव मोक्ष सामान्य में किसी को विवाद नहीं है। मोक्ष के विशेषलक्षण में ही विसंवाद है जिसका यहां विचार किया गया है।

संसार कारण तत्त्व

चार्वाक—

‘देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः ।

मतत्रयामिहाश्रित्य जीवाभावो विधीयते’ ॥

[प्रमाण वा० भा. पृ. ५३]

देहात्मको जीवः देहादन्यत्रानुपलब्धेः शिरादिवदिति पुरंदरः । देहकार्यो जीवः देहान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् उच्छ्वासवदित्युद्भटः । देहगुणो जीवः देहाश्रितत्वात् देहस्य रूपादिवदित्यविद्धकर्णः ।

[विश्रत० प्र० पृ० ८]

शिरा इत्यादि के समान जीव भी देहात्मक है क्योंकि देह को छोड़कर अन्यत्र कहीं जीव पाया नहीं जाता, ऐसा पुरंदर आचार्य ने कहा है। जीव शरीर का कार्य है क्योंकि देह के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है जैसे कि उच्छ्वास का अन्वय व्यतिरेक शरीर के साथ पाया जाता है, यह उद्भट विद्वान् आचार्य का कथन है। जीव शरीर का गुण है क्योंकि शरीर के आश्रित है जैसे कि शरीर के रूप आदि। यह अविद्धकर्ण आचार्य का कथन है। मतलब चार्वाक मत के प्ररूपक तीन आचार्य प्रमुख हैं पुरंदर, उद्भट और अविद्धकर्ण। पुरंदर जीव को देहात्मक कहते हैं, उद्भट जीव को देह का कार्य कहते हैं एवं अविद्धकर्ण जीव को शरीर का गुण कहते हैं।

चार्वाक के साधु कापालिकों की तरह हाथमें कपाल रखते हैं और शरीर में भस्म लगाते हैं। ब्राह्मणों से लेकर अन्त्यज तक सभी जातियों के लोग चार्वाक योगियों में मिलते हैं।

लोकायता वदन्येवं नास्ति जीवो न निवृत्तिः ।

धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥ ८० ॥

[षड्द० पृ० ४५२]

चार्वाक कहते हैं कि जीव, मोक्ष, धर्म, अधर्म, पुण्यपाप और इनका फल कुछ भी नहीं है। स्वर्गनरक की कल्पना हास्यास्पद है। इनका सिद्धांत है कि—‘लौकिकं यद्विषयजं सुखं तस्य परित्यागाद्दृष्टे परलोकसुखादौ तपश्चरणादिकष्टक्रिया साध्ये यत्प्रवर्तनं प्रवृत्तिः तल्लोकस्य विमूढत्वं’। [षड्द० पृ० ४५६]

चार्वाक का कहना है कि प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक विषय सुखों को छोड़कर अदृष्ट परलोक के सुख के लिये तपश्चरण आदि कष्टकर क्रियाओं में प्रवृत्ति करना महामूढता तथा अज्ञान की पराकाष्ठा है। 'धर्मः कामात्परो नहि' उनका कहना है कि काम सेवन से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जैसे गुड़, महुआ आदि वस्तुओं के संमिश्रण से मदिरा बनती है उसी प्रकार भूतचतुष्टय से चैतन्य बन जाता है अतः इनके यहां संसार के कारण भूत मिथ्यात्व आदि कोई चीज ही नहीं हैं और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनकी जड़ता-मूढ़ता ही महामिथ्यात्व होने से अनंत संसार का कारण है।

बौद्ध —

इन विज्ञान आदि स्कंधों से भिन्न सुख-दुःख इच्छा-द्वेष ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। न स्कंधों से भिन्न आत्मा प्रत्यक्ष से अनुभव होता है और न अनुमान से ही होता है, अतः ये पांचों स्कंध क्षणिक हैं दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं मात्र एक क्षण स्थायी हैं, इस प्रकार से पंचस्कंध रूप दुःख तत्त्व है। दुःख तत्त्व का कारण भूत समुदय तत्त्व माना है—'मैं हूँ, यह मेरा है, पर है, पराया है' इत्यादि रूप से रागद्वेषादि दोष समुदय उत्पन्न होते हैं, अहंकार और ममकार रूप से आत्म भाव, आत्मीय भाव, परभाव, परकीय भाव आदि उत्पन्न होते हैं इन भावों से रागद्वेष समूह उत्पन्न होते हैं ये दुःख और दुःख समुदय दो तत्त्व संसार के कारण हैं

“अविद्या प्रत्यया संस्कारा इत्यादिवचनं केषाञ्चित्” । ४६ ।

अविद्या निमित्तक ही संस्कार होते हैं ऐसा बौद्धों का कहना है। अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःखरूप पदार्थों को नित्य सात्मक पवित्र और सुख रूप मानना अविद्या है। इस अविद्या से रागादि संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कार के तीन भेद हैं—

पुण्योपग-शुभ, अपुण्योपग-अशुभ और आनेज्योपग-अनुभय रूप वस्तु का प्रतिविज्ञप्ति विज्ञान है, इन संस्कारों से वस्तु में इष्ट अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इन पुण्य, अपुण्य और अनुभय में विज्ञान होता है। अतः संस्कार निमित्तक विज्ञान है, विज्ञान से चार स्कंध उत्पन्न होते हैं वे नाम हैं एवं चार महा-भूत, रूप कहलाते हैं, अतः विज्ञान के निमित्त से नाम रूप होते हैं। नामरूप से पांच इंद्रिय और मन ये छह आयतन होते हैं। छह आयतन द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञान तंतुओं को जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्श से वेदना, वेदना से आसक्तिरूप तृष्णा की वृद्धि से उपादन होता है। यह इच्छा होती है कि यह मेरी प्रिया सदैव मुझ में सानुराग रहे इत्यादि। इस उपादान से पुनर्भव को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है, इसे भव कहते हैं यह कर्म मन वचन कायपूर्वक होता है, इससे परलोक में नया शरीर ग्रहण करना जाति है, शरीर स्कंध का पक जाना जरा है और उस स्कंध का विनाश मरण है ये जरा मरण जाति कारणक हैं। इस तरह यह द्वादशांग वाला चक्र परस्पर हेतुक है इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य एक को निमित्त करके समुत्पाद-उत्पन्न होना प्रतीत्य समुत्पाद है। अतः अविद्या से संस्कार संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से

तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा और मरण ऐसा कर्म चलता है। इसके कारण भव चक्र बराबर चलता रहता है। अतः अविद्या से संसार होता है संसार का कारण अविद्या है।

बौद्धों की यह संसार कारण पद्धति ठीक नहीं है क्योंकि जब प्रत्येक स्कंध और संस्कार क्षणिक हैं दूसरे क्षण टिकते ही नहीं तब यह सब उपर्युक्त परम्परा कैसे चलेगी, क्योंकि 'क्षणिका सर्वे संस्काराः' [का. ७] ऐसा वचन है अतः बौद्धों द्वारा मान्य संसार कारण तत्त्व गलत है। एक तो आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है दूसरे सभी पदार्थ प्रतिक्षण ध्वंसी है। अतः संसार के कारण होना असंभव है। वास्तव में यह क्षणिक सिद्धान्त ही दीर्घसंसार का कारण है ऐसा समझना चाहिये।

सांख्य—

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बंधः ॥ [सांख्य. का. ४४]

धर्म से ऊर्ध्वं गति एवं अधर्म से अधोगति होती है एवं ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बंध होता है जब तक कोई भी मनुष्य आत्मा को महान्, अहंकार, पांच तन्मात्रा, पांच इन्द्रिय, पांच भौतिक शरीर, आदि अनात्मीय पदार्थों में 'मैं सुनता हूँ, देखता हूँ' यह कल्पना करता है तभी तक उसको संसार है अतः संसार का कारण अज्ञान या अविद्या ही है।

इस पर आचार्यों का कहना है कि ऐसा एकांत मानना गलत है क्योंकि आपके यहां पुरुष को सर्वथा अपरिणामी, निष्क्रिय, अकर्ता आदि कहा है पुनः उसके यहां संसार के कारण मोक्ष के कारण आदि कैसे बनेंगे ? एवं सर्वथा अविद्या ही संसार का कारण नहीं है। सम्यग्ज्ञान होने के बाद भी संसार में कुछ दिन रहना देखा जाता है। अतः संसारकारणतत्त्व अज्ञान मात्र ही नहीं है, राग द्वेष आदि परिणाम भी संसार के कारण हैं।

नैयायिक—

नैयायिक का कहना है कि मिथ्याज्ञान का कार्य दोष, दोष का कार्य प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कार्य जन्म, और जन्म का कार्य दुःख है। इसलिये मूल में संसार का कारण मिथ्याज्ञान ही है। वैसे इनके यहां सदाशिव ईश्वर ही सृष्टि रचना करके जीव में मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान आदि को भर देता है कोई जीव स्वयं स्वतन्त्र समर्थ नहीं है। यही कारण है कि इनकी संसार कारण मान्यता भी ठीक नहीं है।

वैशेषिक—

इच्छा और द्वेष से धर्म अधर्म की प्रवृत्ति होती है। उनसे सुख और दुःख रूप संसार होता है, संसार में नये शरीर और मन का संयोग होता है, जन्म होता है, एवं कर्मों का संचय होता है। अतः इच्छा और द्वेष ही संसार के कारण हैं। इनके यहां भी ईश्वर सृष्टि का कर्ता है अतः यह सब कल्पनायें व्यर्थ प्रतीति होती हैं।

मीमांसक—

ये मीमांसक लोग भले ही 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह रटते रहें या लाखों बार यज्ञ आदि अनुष्ठान जप, तप दीक्षाविधि, सन्यास आदि में विशेष-विशेष क्रिया काण्ड करते रहें लेकिन ये लोग जीव का संसार से छूट कर मुक्त होना मानते ही नहीं हैं अतः इनके यहाँ के सब क्रिया काण्ड संसार के ही कारण हैं। वास्तव में मिथ्यात्व युक्त वेद विहित यज्ञादि का अनुष्ठान संसार का ही कारण है क्योंकि वेदों में हिंसादि में भी धर्म माना है। वैसे ही वेदांतियों की 'ब्रह्मवाद' व्यवस्था भी ठीक नहीं है एवं उनके अनुसार 'परमब्रह्म' का ध्यान मनन भी संसार का ही कारण है।

जैन—

जैनसिद्धांत में संसार के कारण मुख्य रूप से पांच हैं—

'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः। [तत्त्वाथं. सू.] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच कारणों से कर्मों का बंध होता है अतः ये कर्म बंध के कारण ही संसार के कारण हैं क्योंकि कर्मों से बंधा हुआ जीव ही संसार में परिभ्रमण करता है। यह कर्म का सम्बन्ध कब से हुआ ?

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।

कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥

[गोम्मटसार कर्म.]

प्रकृति, शील और स्वभाव ये प्रकृति के नाम हैं। जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। जैसे कि स्वर्ण पाषाण में किट्ट आदि प्रारम्भ से ही मिश्रित रहता है। एवं इन जीव और कर्मों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। 'अहं' प्रत्यय से जीव का अस्तित्व जाना जाता है। दीन, दरिद्री, धनी आदि होने से कर्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। यह जीव कर्मों के उदय से राग द्वेष आदि रूप परिणत होता है। राग द्वेष से कर्मों का बंध कर लेता है। द्रव्यकर्म और भावकर्म का परस्पर में कार्य कारण भाव सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। यह कर्म बंध कतिपय भव्यों की अपेक्षा अनादि होकर भी साँत है एवं अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है।

पूर्वोक्त सूत्र का विशेष अर्थ—

अतत्त्व श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं उसके दो भेद हैं—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। जो परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से अनादिकाल से जीव के साथ चला आ रहा है वह नैसर्गिक है। इससे जीव एकान्त से क्षणिक या नित्य तत्त्व मान लेता है, या यथार्थ तत्त्वों पर श्रद्धान नहीं करता है। परोपदेश से होने वाला मिथ्यात्व चार प्रकार का है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक। अथवा मिथ्यात्व के पांच भेद भी हैं—एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान।

असिदिसदं किरियाणं अक्कियाणं तह य होइ चुलसीदी । सत्तट्टणणाणीणं वेणइयाणं तु बत्तीसं ।' क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७, और वैतनिकों के ३२ ऐसे ३६३ मिथ्यामत माने गये हैं ।

छह काय के जीवों की दया न करने से एवं पांच इन्द्रिय और मन को बश में न रखने से अविरति के १२ भेद हैं ।

चार विकथा, चार कषाय, पंचइन्द्रिय विषय, निद्रा और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं । कुशल कार्य में अनादर करना प्रमाद है ।

अनंतानुन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सोलह कषाय और हास्य, रति आदि नव नोकषाय ये २५ कषाय हैं । चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काय योग ऐसे १५ योग होते हैं । ऐसे वे ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, १५ प्रमाद, २५ कषाय और १५ योग सब मिलकर ५ + १२ + १५ + २५ + १५ = ७२ भेद हो जाते हैं ।

प्रथम गुण स्थान में जीवों के पांचों ही बंध के कारण मौजूद हैं द्वितीय से चतुर्थ तक मिथ्यात्व के सिवा चार कारण होते हैं, पांचवें में त्रस की विरति और ग्यारह की अविरति इस निमित्त से विरताविरत परिणाम होने से चार कारण हैं । छठे में प्रमाद होने से तीन कारण हैं, सातवें से दसवें तक कषाय और योग ये दो ही कारण होते हैं, ग्यारहवें से तेरहवें तक मात्र योग ही एक कारण है, एवं चौदहवें में योग न होने से बंध के कारण नहीं हैं अतः चौदहवें गुण स्थान के अन्त में बंध के हेतु का पूर्णतया अभाव और पूर्वकर्मों की निर्जरा हो जाने से मोक्ष हो जाती है ।

जो जीव कर्मों से बंधे हैं वे ही मुक्त होते हैं यह जैनसिद्धान्त का अटल नियम है ।

मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणामों का नाम गुणस्थान है । ये गुणस्थान चौदह माने गये हैं । इनका विवरण गोम्मटसार जीवकाण्ड से देखिये ।

कोई संसार को अहेतुक कहते हैं । कोई प्रकृति मात्र को संसार का कारण कहते हैं, कोई केवल अज्ञानादि दोषों को संसार का कारण कहते हैं ।

किन्तु संसार अहेतुक नहीं है, यद्यपि अनादि है फिर भी उसके कारण कर्म मौजूद हैं । आगम और अनुमान आदि से संसार सहेतुक ही सिद्ध है तभी तो कोई जीव उन संसार के हेतुओं का नाश करके मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । सांख्य ने प्रधान को ही संसार का हेतु माना है, किन्तु आत्मा को संसर्ग से संसार का होना, जीव को जन्म मरण आदि दुःखों का होना जो कि प्रत्यक्ष सिद्ध है वह नहीं बनेगा । बौद्ध अज्ञान आदि जन्य ही संसार मानते हैं, किन्तु कर्मोदय बिना अज्ञान, द्वेष आदि परिणाम हो नहीं सकते हैं इसलिये संसार के कारण मिथ्यात्व आदि प्रसिद्ध हैं ।

मोक्ष के कारण का विचार

चार्वाक—

‘सुख दुःख के कारण धर्म, अधर्म, उत्कृष्ट धर्म, अधर्म के फल भोगने के स्थान स्वर्ग नरक, पुण्य और पाप दोनों के नाश से होने वाला मोक्ष सुख इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थों की कल्पना उसी तरह हास्यास्पद और उपेक्षणीय है जिस तरह आकाश में अनेक रंगों से विचित्र चित्र बनाने की भावना हास्यास्पद है।’

“साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते नरे ।

निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात्परो न हि ॥८६॥ [षड्दर्श० पृ० ४१६]

कर्तव्य कार्य में प्रवृत्ति और न करने योग्य-अकार्य से निवृत्ति होने पर जो मनुष्यों को आत्म संतोष या प्रीति उत्पन्न होती है उसे चार्वाक लोग निरर्थक बताते हैं उनके यहां तो काम पुरुषार्थ से बढ़कर कोई धर्म ही नहीं है। अर्थात् चार्वाक लोग जप, तप, संयम, साधना आदि कार्यों में प्रवृत्ति करने और विषय सुख, इंद्रिय लंपटता, हिंसा, असत्य आदि पाप कार्यों के त्याग करने को मूढता समझते हैं। इसलिये इनके यहां आत्मा, परलोक, मोक्ष और मोक्ष के कारणों की वार्ता ही समाप्त हो जाती है।]

बौद्ध—

‘निरोधहेतु नैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्गः । मार्गण् अन्वेषणो मार्ग्यतेऽन्विष्यते याच्यते निरोधार्थभिरिति चुरादिणिजन्तस्त्वेनात्प्रत्ययः । निःक्लेशावस्था चित्तस्य निरोधः’ [षड् द० ३६]

निरोध-निर्वाण मार्ग के इच्छुक मुमुक्षु जिसे ढूँढते हैं, जिसकी याचना करते हैं वह मार्ग है (अन्वेषण अर्थ में मार्गण्—घातु से चुरादिगण में णिच् प्रत्यय के बाद अल् प्रत्यय से मार्ग शब्द बना है) निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावनायें ही निर्वाण में कारण होने से मार्ग कही जाती हैं। एवं चित्त की क्लेश रहित अवस्था को निर्वाण कहते हैं। अर्थात् दुःख, दुःख समुदय, मार्ग और निरोध ऐसे चार आर्य सत्य माने हैं। दुःख का नाम संसार है, दुःख समुदय संसार का कारण है, मार्ग मुक्ति का कारण है एवं निरोध का अर्थ मुक्ति है।

‘सर्वभावेष्वविपरीतदर्शनं विद्या । यत्सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदुःखेषु अनित्यानात्मकाशुचिदुःखदर्शनं सा विद्या । ततो मोक्षः ।’ [तत्त्वार्थ वा. पृ. १३]

जब सब पदार्थों में अनित्य निरात्मक अशुचि और दुःख रूप तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या के विनाश से क्रमशः संस्कार आदि का नाश होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस तरह बौद्ध मत में अविद्या से बंध और विद्या से मोक्ष माना गया है। अर्थात् बौद्धों के यहां अनित्य अशुचि आदि पदार्थों को नित्य शुचि आदि समझना अविद्या है। अविद्या से रागादि संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप (पंचस्कंध) नाम रूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा-मरण होते हैं। यह संसार के कारणों की परंपरा बताई है। वैसे ही विद्या से अविद्या का अभाव, अविद्या के अभाव से

संस्कार का निरोध, संस्कार के अभाव से विज्ञान का अभाव, विज्ञान के अभाव से नाम रूप का अभाव, नाम रूप के अभाव से षडायतन का अभाव, षडायतन के अभाव से स्पर्श का, स्पर्श के अभाव से वेदना का, वेदना के अभाव से तृष्णा का, तृष्णा के अभाव से उपादान का, उपादान के अभाव से कर्म का, कर्म के अभाव से जाति का, जाति के अभाव से जरा-मरण का अभाव हो जाता है। मतलब विद्या से मोक्ष होती है, किंतु यह बौद्ध मान्यता बिल्कुल गलत है पदार्थ सर्वथा क्षणिक न होकर नित्य भी हैं उन्हें क्षणिक समझना विद्या नहीं है प्रत्युत महा अविद्या है। इस क्षणिक मत की बुद्धि के अभाव से सम्यक्त्व और ज्ञान आदि प्रगट होने से ही मोक्ष होती है।

सांख्य—

‘विपर्ययाद् बंधस्यात्मलाभे सति ज्ञानादेव तद्विनिवृत्ते स्त्रित्वानुपपत्तिः ॥४१॥ [तत्त्वार्थं वा. पेज ११]

शंका—मिथ्याज्ञान से ही बंध होता है अतः मोक्ष भी ज्ञान मात्र से ही होना चाहिये इसलिये मोक्ष के लिये तीन कारण नहीं बनते हैं। यथा—जब तक पुरुष को महान् आदि के क्रम से उत्पन्न होने वाले पांच भौतिक शरीर में अहंपने का मिथ्याज्ञान रहता है, तभी तक शरीर को आत्मा मानने से विपर्यय ज्ञान से बंध होता है। और जब इसे प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान हो जाता है, वह पुरुष के सिवाय यावत् पदार्थों को प्रकृति कृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होकर ‘इनमें मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं’ यह परम विवेक जाग्रत होता है, तब ज्ञान मात्र से मोक्ष हो जाता है। अतः ज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है।

जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञान मात्र से मोक्ष माना जाय तो पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के द्वितीय क्षण में ही मोक्ष हो जानी चाहिये। पुनः एक क्षण भी संसार में ठहरने से उपदेश तीर्थ प्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकेंगे। यह सम्भव नहीं कि दीपक भी जल जाय और अन्धेरा भी रह जाय। उसी तरह से ज्ञान मात्र से मोक्ष कहने पर यह सम्भव नहीं है कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि कहो कि पूर्णज्ञान होने के बाद भी कुछ संस्कार शेष रह जाते हैं जिनके क्षय हुये बिना मोक्ष नहीं होती, एवं जब तक उन संस्कारों का क्षय नहीं होता तब तक उपदेश आदि प्रवृत्ति होती है तब तो यह स्पष्ट अर्थ हुआ कि संस्कार क्षय से मुक्ति होती है न कि ज्ञान मात्र से। पुनः यह बताओ ! संस्कारों का क्षय ज्ञान से होता है या अन्य कारणों से ? यदि ज्ञान से कहो तो ज्ञान होते ही संस्कार का क्षय हो जाना चाहिये। पुनः वही उपदेश नहीं हो सकेगा। यदि अन्य कारण कहो, तो उसी का नाम चारित्र्य है। एवं ज्ञान मात्र से मोक्ष कहने से तो सिर मुंडाना, गेरुआ वेष, यम, नियम, जप, तप, दीक्षा आदि सब व्यर्थ हो जावेंगे।

नैयायिक—

‘दुःखादिनिवृत्तिः इत्यन्येषां ॥४५॥ दुःखजन्मप्रवृत्तिमिथ्याज्ञाननामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्ति-
श्रेयसाधिगमः । [न्याय सूत्र १।१।२]

दुःखादि की निवृत्ति होना मोक्ष है, ऐसा नैयायिकों का कहना है। अर्थात् मिथ्या ज्ञान का कार्य दोष, दोष का कार्य प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कार्य जन्म और जन्म का कार्य दुःख है। मिथ्या ज्ञान का अभाव होने पर क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख नष्ट हो जाते हैं उसी का नाम मोक्ष है।

इनके द्वारा मान्य सात पदार्थ और नव द्रव्य की कल्पना, ईश्वर सृष्टि की और समवाय की कल्पना ही गलत है-तब उनके यहां मिथ्याज्ञान का अभाव असम्भव है। अतः इनके द्वारा मान्य मोक्ष के कारणों से जप, तप, दीक्षा आदि कुत्सित चारित्र्य से मोक्ष प्राप्त करना अशक्य है।

वैशेषिक—

‘इच्छाद्वेषाभ्यामपरेषां’ १४४। [तत्त्वार्थवा० पृ० ११] वैशेषिक का कहना है कि इच्छा और द्वेष से धर्म अधर्म की प्रवृत्ति, उनसे सुख दुःखरूप संसार। जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे इच्छा और द्वेष नहीं होते, इनके न होने से धर्म अधर्म नहीं होते, इनके न होने से नये शरीर और मन का संयोग नहीं होता, जन्म नहीं होता, और संचित कर्मों का निरोध हो जानेसे मोक्ष हो जाता है। जैसे प्रदीप के बुझ जाने से प्रकाश का अभाव हो जाता है, उसी तरह धर्म और अधर्म रूप बन्धन के हट जाने से जन्म-मरण चक्ररूप संसार का अभाव हो जाता है। अतः षट् पदार्थ का तत्त्व ज्ञान होते ही अनागत धर्म और अधर्म की उत्पत्ति नहीं होगी और संचित धर्माधर्म का उपभोग और ज्ञानाग्नि से विनाश होकर मोक्ष हो जाता है। अतः वैशेषिक मत में भी तत्त्वज्ञान से मोक्ष माना है।

वास्तव में इन वैशेषिक के मोक्ष कारण तत्त्व भी गलत हैं तत्त्वज्ञान मात्र से मोक्ष होना असम्भव है यह बात ऊपर कही जा चुकी है, तथा इनके सोलह पदार्थों का ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं है क्योंकि सोलह पदार्थ वास्तविक नहीं हैं कल्पना से कल्पित हैं, अतः इनके द्वारा मान्य भी मोक्ष कारण तत्त्व बाधित है।

इनका कहना है कि अदृष्ट के दो भेद हैं—धर्म, अधर्म। धर्म पुरुष का गुण है, कर्ता के प्रियहित और मोक्ष में कारण है, अतीन्द्रिय है, अन्तिम सुख का यथार्थ विज्ञान होने से इसका नाश होता है। जब तक तत्त्वज्ञान की पूर्णता नहीं होती तब तक धर्म का कार्य सुख बराबर चालू रहता है। तत्त्वज्ञान होने के बाद प्रारब्ध कर्मों के फल रूप अन्तिम सुख तक बराबर धर्म ठहरता है अन्तिम सुख के प्राप्त होने के बाद धर्म का तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है। यह तत्त्वज्ञान श्रुति स्मृति विहित मार्ग का पालन करने से अहिंसा आदि एवं विशेष रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के पूजन अध्ययन आदि से उत्पन्न होता है अतः तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। यह मान्यता पूर्वोक्त प्रकार से गलत ही है।

मीमांसक—

‘कुमारिल भट्ट ने कहा है कि पुरुष की प्रीति को श्रेय कहते हैं’ यथा—

‘श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।

नोदनालक्षणैः साध्या तस्मादेष्वेवधर्मता (मी०श्लोक० चोदना सूत्र श्लो०१६१)

पुरुष की प्रीति को श्रेय कहते हैं यह प्रीति वेद वाक्यों से प्रतिपादित यज्ञादि में उपयुक्त होने वाले

द्रव्य, गुण और क्रियाओं से उत्पन्न होती है अतः स्वर्गादि रूप प्रीति के साधन द्रव्य, गुण आदि में ही धर्मता है। मतलब ये मीमांसक सर्वज्ञ, ईश्वर को नहीं मानते हैं तब मोक्ष और उसके कारणों की बात ही खतम हो जाती है। ये सदा ही आत्मा को धर्म से स्वर्गादि सुख और अधर्म से नरकादि दुःख की व्यवस्था कर देते हैं। बस इनके यहां बुद्धि में मीमांसा करने का ही अभाव है।

“आत्मा नित्य अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत् में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है मृत्यु के बाद भी यह अपने कर्मों के फलों का उपभोग करने के लिए विद्यमान रहता है, चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, किन्तु औपाधिक है। सुषुप्तावस्था तथा मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य नहीं रहता, क्योंकि उसके उत्पादक कारणों का अभाव हो जाता है जितने जीव हैं उतने ही आत्मा हैं। जीवात्मा बन्धन में आते हैं और उससे मोक्ष भी पा सकते हैं।” [भारतीय द० पृ० २११]

वास्तव में मोक्षावस्था में जीवात्मा को चैतन्य शून्य मानना मतलब जीव के मोक्ष का अभाव सिद्ध कर देना है।

प्राचीन मीमांसकों के मत में स्वर्ग ही जीव का चरम लक्ष्य माना गया है, इसलिए कहा गया है ‘स्वर्गकामो यजेत’ सभी कर्मों का अंतिम उद्देश्य है स्वर्ग प्राप्ति। परन्तु धीरे-धीरे मीमांसक गण अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह मोक्ष-सांसारिक बंधनों से छूटकर मुक्ति को सबसे बड़ा कल्याण—निःश्रेयस मानने लगे हैं।

निष्काम धर्मचरण और आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित संस्कार भी क्रमशः लुप्त हो जाते हैं। तब इसके बाद पुनर्जन्म नहीं होता और कर्म का बन्धन छूट जाता है, परन्तु मीमांसक का यह मोक्षकारण तत्त्व ठीक नहीं है।

वेदान्तवादी—

‘ब्रह्म स्वरूप में लय हो जाना ही मुक्ति है’ इस ब्रह्मालयावस्था के सिवाय अन्य किसी प्रकार की मुक्ति वेदान्तियों को इष्ट नहीं है। ये ‘भगवत्’ शब्द से पुकारे जाते हैं। इनके कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार भेद होते हैं। हंस साधुओं को तत्त्वज्ञान हो जाता है तब ये परमहंस कहलाते हैं। “परमहंसादित्रयाणां च कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमंडलुर्न दण्डः सावर्वर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः” ॥ [ना. प. उ. ५।१] परमहंसादि तीनों के कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, कमंडलु नहीं होते हैं सभी वर्णों में भिक्षा ले लेते हैं जातरूपधारी होते हैं। इनके अध्ययन का एक मात्र विषय है वेदान्त। ये चारों ही मात्र ब्रह्मद्वैत की सिद्धि में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। [षड्. पृ. ४३२]

ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं हर एक भाष्यकार एक-एक वेदान्त संप्रदाय के प्रवर्तक बन गये हैं इस तरह शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निंबार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न संप्रदाय चल पड़े हैं।

शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं, इनमें द्वैत नहीं है। अतः इनके मत का

नाम 'अद्वैत' है। रामानुजाचार्य अद्वैत को स्वीकार करते हुये भी कहते हैं कि एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति भी विशेष रूप है, अनेक विशेषण विशिष्ट एक ब्रह्म को मानने के कारण इस मत का नाम पड़ा है 'विशिष्टाद्वैत'। मध्वाचार्य ब्रह्म और जीव को दो मानते हैं अतः इस मत का नाम 'द्वैत' है। निंबार्काचार्य का मत है कि जीव और ब्रह्म किसी दृष्टि से दो हैं, किसी दृष्टि से दो नहीं हैं। इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध है शंकर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिविध्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गलुम् ॥१॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः ।

पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

[ऋग्वेद. १।-६०]

पुरुष के सहस्रमस्तक, सहस्रनेत्र, सहस्र पैर हैं, वह समस्त पृथ्वी में व्याप्त है और उससे दश अंगुल परे भी है। जो कुछ है, जो कुछ होगा, सो सब वही पुरुष है, वह अमरत्व का स्वामी है, जितने अन्न से पलने वाले जीव हैं सबमें वही है, उसकी इतनी बड़ी महिमा है, वह उससे भी बड़ा पुरुष है, उसके एक पाद से संपूर्ण विश्व व्याप्त है और तीन पाद अमृत हैं जो द्युलोक में हैं, वही चारों ओर चराचर विश्व में व्याप्त है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि वैशेषिक और नैयायिक, ईश्वर को सृष्टि की रचना में निमित्त मानते हैं। सर्वेश्वरवादी ईश्वर को जगत का उपादान कारण मानते हैं, किंतु ये वेदान्ती तो ईश्वर को जगत् का निर्माण करने में उपादान और निमित्त दोनों कारण मान लेते हैं। वैदिक ऋषि की दिव्य दृष्टि इतनी दूर तक पहुंच गई है कि एक ही मंत्र में उन्होंने अद्वैत, जगदेक्यवाद तथा निमित्तोपादानेश्वरवाद के तत्त्व भर दिये हैं।

इस तत्त्व को कभी 'ब्रह्म' कभी 'आत्मा' कभी केवल 'सत्' कहा गया है। अर्थात् शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि वास्तविक आत्मा नहीं हैं, वे उसके बाह्य रूप हैं। सबका मूल आधार आत्म तत्त्व है, आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। सत्य, अनन्त और ज्ञान स्वरूप होने के कारण जो ही आत्मा मनुष्य में है वही सब भूतों में है। अतएव आत्मा परमात्मा एक ही है। इस आत्मज्ञान या आत्मविद्या को श्रेष्ठ विद्या कहते हैं। आत्म ज्ञान का साधन है काम क्रोधादि वृत्तियों का दमन करना एवं ब्रह्म का श्रवण, मनन, निदिध्यासन। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा संस्कारों का लोप हो जाता है तब आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। उपनिषदों का मत है कि कर्मकाण्ड के द्वारा जीवन के परम पुरुषार्थ की—अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। केवल आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या के द्वारा ही पुनर्जन्म और तज्जन्य बलेशों का अन्त

हो सकता है। जो अपने को शाश्वत ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है वही अमरत्व प्राप्त करता है। विषयों को भोग करने की वासनायें वे बेड़ियाँ हैं जो हमें जकड़कर सांसारिक बंधन में रखती हैं और जिनसे जन्म और मृत्यु एवं पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। जब मनुष्य का हृदय वासना से रहित निष्काम हो जाता है तब वह इस जीवन में ब्रह्म में लीन हो जाता है।

शैव, पाशुपत, कापालिक और कालामुख मतों के अनुसार जगत् का उपादान कारण पंचभूत है एवं निमित्त कारण ईश्वर है, किंतु वेदान्तियों के अभिप्राय से जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण चित् रूप परमब्रह्म आत्मा ही है।

इस प्रकार से कोरे वेदांत के अध्ययन से मुक्ति नहीं मिल सकती है यद्यपि उपनिषदों में ज्ञान मात्र से मुक्ति कही है फिर भी ज्ञान शब्द का अर्थ श्रुति का कोरा शब्द ज्ञान नहीं है। श्रवण—गुरु के उपदेश सुनना, मनन—उन उपदेशों पर युक्ति पूर्वक विचार करना। निदिध्यासन—उन सत्यों का बारम्बार ध्यान करना। पूर्व संचित संस्कारों का नाश बारम्बार ब्रह्म विद्या के अनुशीलन, तदनुकूल आचरण से होता है। आगे बढ़ते-बढ़ते जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाने से उसी के साथ बंधन कटकर मोक्ष का साक्षात् अनुभव होता है।” [भारतीय द०]

यह वेदांतियों द्वारा मान्य मोक्ष का कारण प्रारंभ में बड़ा सुन्दर लगता है, किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि जब एक 'अद्वैतरूप ब्रह्म' ही सिद्ध नहीं है, नाना जीवों की सत्ता पृथक्-पृथक् है तब उस ब्रह्म का श्रवण, मनन, चिंतन, ध्यान भी अविद्या का ही विलास है। इसलिये वेदांतियों द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी ठीक नहीं हैं।

जैन—

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ [तत्त्वार्थ सूत्र]

जैनाचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को मोक्ष की प्रप्ति का उपाय बतलाया है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।

त्रिमूढापौढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

सच्चे आप्त, आगम और गुरु का श्रद्धान करना एवं तीन मूढता रहित आठ अंग सहित आठ मद-रहित होना सम्यग्दर्शन है। ‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्’ तत्त्वार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

इस सम्यग्दर्शन के होने के बाद ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है पुनः रागद्वेष को दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र ग्रहण किया जाता है। उसके दो भेद हैं। ‘सकलं विकलं चरणं’ पूर्ण पापों के त्यागी महा-व्रती साधु सकल चारित्र धारण करने वाले हैं एवं श्रावक अणुव्रत रूप विकल चारित्र पालन करते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व पूर्ण हो गया, केवलज्ञान की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण ज्ञान प्रगट हो गया है, चारित्र के अंतर्गत व्युपरतक्रिया निवृत्ति ध्यान की पूर्ति चौदहवें

गुणस्थान के अंत में होकर चौहदवें गुणस्थान के बाद जीव मुक्त-सिद्ध होता है। अर्थात् इस मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रय की पूर्णता चौहदवें गुणस्थान के अंत में होती है तभी मोक्ष प्राप्त होता है। इसी बात को आप्त परीक्षा में श्री विद्यानंद आचार्य महोदय ने स्पष्ट किया है। 'तथैवायोगकेवलिचरम-क्षणवतिकृतस्नकर्मक्षयलक्षणमोक्षमार्गं साक्षान्मोक्षमार्गत्वं सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वं न व्यभिचरति तपोविशेषस्य परमशुक्लध्यानलक्षणस्य सम्यक्चारित्र्येऽन्तर्भावादिति'।

[आप्तपरीक्षा पृ० २६०]

उसी प्रकार अयोगकेवली नामक चौहदवें गुणस्थान के अंतिम समय में होने वाले समस्त कर्मों के नाश रूप मोक्ष के मार्ग में वृत्ति 'साक्षात् मोक्षमार्गपना' सम्यग्दर्शन आदि तीन रूपता का व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि परमशुक्लध्यानरूप तपोविशेष का सम्यक्चारित्र्य में समावेश होता है।

जो मात्र ज्ञान से या सम्यक्त्व से या चारित्र्य से या दोके मेल से मुक्ति मानते हैं, वह मान्यता गलत है। यहां यह बात निश्चित है कि 'रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है' एक दो आदि नहीं। कहा भी है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।

धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्तपि च पंगुलः ॥

क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल है। दावानल से व्याप्त वन में जैसे प्रधा व्यक्ति इधर-उधर भाग कर भी जल जाता है वैसे ही पंगु देखता हुआ भी जल जाता है।

इसलिये मोक्ष की प्राप्ति का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों से अविनाभाव है, वह मुक्ति इन तीनों के बिना नहीं हो सकती है। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य ही मोक्ष के कारण तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये।

अद्वैतवाद विचार

अद्वैतवादियों में पांच भेद हैं— ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत और शून्याद्वैत।

ब्रह्माद्वैतवादी वेदांती हैं ये सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक ब्रह्म रूप ही मानते हैं।

शब्दाद्वैतवादी वैयाकरण कहलाते हैं ये भी सम्पूर्ण चराचर जगत् को 'शब्दब्रह्म' रूप मानते हैं।

विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध हैं ये सारे विश्व को एक विज्ञान मात्र ही मानते हैं।

चित्राद्वैतवादी भी बौद्ध हैं ये सम्पूर्ण जगत् को 'चित्रज्ञान' रूप एक मानते हैं।

शून्याद्वैतवादी माध्यमिक बौद्ध हैं ये सारे जगत् को एक शून्य रूप ही स्थापित करते हैं।

इनमें से शब्दाद्वैतवादी का मत स्पष्ट करते हैं।

शब्दाद्वैतवाद निराकरण

'येऽपि शब्दाद्वैतवादिनो निखिलप्रत्ययानां शब्दानुविद्धत्वेनैव सविकल्पकत्वं मन्यन्ते'

[प्रमेय क० मा०पृ३६]

जो भर्तृहरि और शब्दाद्वैतवादी हैं वे सम्पूर्ण ज्ञानों को शब्द से अनुबिद्ध सविकल्प ही मानते हैं। मतलब उनका कहना यह है कि-ज्ञान शब्द से अनुबिद्ध होकर ही पदार्थों का ज्ञान कराता है-जगत् में जितने भी ज्ञान हैं वे सब शब्दों के द्वारा ही होते हैं। एवं जगत् में जितने भी पदार्थ हैं वे सब शब्द ब्रह्म की पर्यायें हैं।

शब्द ब्रह्म तो अनादि निधन है अक्षरादि उसकी पर्यायें हैं एवं सम्पूर्ण पदार्थ आदि इसी के भेद प्रभेद हैं।

इस पर श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने विशद वर्णन के द्वारा शब्द ब्रह्मवाद का निराकरण कर दिया है क्योंकि शब्द से अनुबिद्ध होकर ही ज्ञान हो यह बात असम्भव है, नेत्रादि से जो ज्ञान होता है उसमें शब्दानुबिद्धत्व कहां है ? एक कर्णज्ञान को छोड़कर किसी भी ज्ञान में शब्दानुबिद्धत्व नहीं है।

यदि पदार्थों का शब्द से अनुबिद्धत्व-सम्बन्ध मानों तो भी ठीक नहीं है अन्यथा अग्नि आदि शब्द सुनते ही कान जलने लगेगा। जगत् को शब्दरूप मानना तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है फिर भी आप मानें तो प्रश्न यह होता है कि शब्दब्रह्म जब जगत् रूप परिणमन करता है तब अपने स्वरूप को छोड़ कर या बिना छोड़े ? यदि अपने स्वरूप को छोड़कर परिणमन किया तो अनादिनिधनता कहां रही ? नहीं छोड़ा तो सारे पदार्थ शब्दमय होने से बहरे को भी शब्द सुनायी देने लगेंगे। पुनः प्रश्न होंगे कि शब्द-ब्रह्म से उसकी जगत् रूप पर्यायें भिन्न हैं या अभिन्न ? भिन्न कहो तो अद्वैत पक्ष समाप्त हुआ। यदि अभिन्न कहो तो शब्दमय पदार्थ हो गये, पुनः 'गिरि' शब्द छोटा सा होकर बड़े से पर्वत का वाचक कैसे होगा ? एवं बिना संकेत के भी बाल मूक आदि को उनका ज्ञान होने लगेगा आदि अनेकों दोष आते हैं अतः जगत् को शब्द ब्रह्ममय मानना गलत है। ये शब्दवर्गणायें तो पुग्दलद्रव्य की पर्याय हैं, मूर्तिक हैं, तभी इन्हें आज यंत्रों द्वारा लाखों मीलों तक भेजा जाता है, सुना जाता है टेपरेकार्ड आदि यंत्रों में भरा जाता है। यदि अमूर्त और एक हों तो ये सब बातें असम्भव हो जावेंगी। इसलिये इन अद्वैतवादों की मान्यतायें गलत हैं। ब्रह्माद्वैत आदि का खण्डन इसी में पहले कर दिया है।

स्फोटवाद का विचार

स्फोटवादी मीमांसकों का मत है कि ध्वनियां क्षणिक हैं, क्रमशः होती हैं और अनंतर क्षण में विनष्ट हो जाती हैं, वे स्वरूप का बोध कराने में ही क्षीणशक्ति हो जाती हैं अतः भिन्न अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं। उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ प्रतिपादन में समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिये। जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह मत ठीक नहीं है क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव नहीं बनता है। जिस शब्द स्फोट को व्यंग्य मानते हो वह स्वरूप में रहता है या नहीं ? यदि स्वरूप से रहता है, तब तो ध्वनियों से पहले और बाद में उसके उपलब्ध न होने का क्या कारण है सूक्ष्मता या किसी प्रतिबन्धक का होना ? यदि

सूक्ष्मता कारण है तो आकाश की तरह ध्वनिकाल में भी उपलब्ध नहीं रहना चाहिये । एवं प्रतिबन्धक कारण भी कोई दिखता नहीं है ।

यदि स्फोट स्वरूप से अनवस्थित है तो वह व्यंग्य नहीं हो सकता है और न ध्वनियां व्यंजक हो सकती हैं । जब ध्वनियां उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाती हैं तब वे स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे करेंगी ? यदि क्षणिक होकर भी वे स्फोट की अभिव्यक्ति कर सकती हैं तो सीधा अर्थ बोध कराने में क्या बाधा है जिससे कि एक निरर्थक स्फोट माना जाय ?

अतः शब्द ध्वनिरूप ही है और वह नित्यानित्यात्मक है यह स्वीकार करना चाहिये । वह पुद्गल दृष्टि से नित्य है, श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुनने योग्य पर्याय सामान्य की दृष्टि से कालांतर स्थायी है और प्रतिक्षण की पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक भी है । [राजवा० पंचम अ० पृ० ४८६]

'स्फोटवादी वैयाकरणों का कहना है कि वर्ण, पद और वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, किन्तु स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है' । [न्या० कु० च० पृ० ७४५]

मीमांसक और वैयाकरणों का कहना है कि एक शब्द को भी सम्यक् रीति से जानकर शास्त्रानुसार उसका शुद्ध प्रयोग करने से इस लोक और परलोक में इच्छित फल की प्राप्ति होती है । अर्थ का ज्ञान कराने में संस्कृत भाषा के शब्द ही कारण हो सकते हैं, प्राकृत भाषा के नहीं । अतः व्याकरण के अनुसार सिद्ध 'गौ' आदि शब्द ही साधु हैं और वे ही अर्थ के वाचक हो सकते हैं, 'गौ' शब्द के अपभ्रंश 'गावी' 'गोणी' आदि शब्द अर्थ के वाचक नहीं हैं क्योंकि वे शुद्ध नहीं हैं ।

तात्पर्य यह है कि 'वैयाकरणदर्शन' को 'पाणिनिदर्शन' भी कहते हैं । 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इसका वर्णन आता है ।

ये लोग शब्द ब्रह्म को एक और विश्व व्याप्त मानते हैं अतः शब्दाद्वैत वादी हैं । इन्हीं में कोई लोग वर्णों को अर्थ बोधक न मानकर 'स्फोट' से अर्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं वे शब्द स्फोटवादी हैं । मीमांसक भी शब्द को नित्य मानते हैं एवं कोई स्फोटवाद भी मानते हैं ।

हरिणाभाणि ब्रह्मकाण्डे—“अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्तेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगते यतः” ॥ [सर्वं द० पृ० २४५]

अनादि निधन अक्षराख्य शब्द तत्त्व ब्रह्म घटादि अर्थाकार विवर्त होता है जिससे जगत्प्रक्रिया निष्पन्न होती है ।

'पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपत्यापि स्फोटोऽभ्युपगंतव्यः' अर्थ प्रतीति के बल से भी स्फोट पदार्थ मानना होगा क्योंकि वर्ण से ही अर्थ बोध होता है यह मानना गलत है । "जिससे अर्थ प्रतीति होती है वह वर्ण से अतिरिक्त वर्ण से अभिव्यंग्य नित्य शब्दस्फोट है । अतएव—“स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यंग्यः स्फुटो भवत्यस्मादर्थ इति स्फोटो अर्थप्रत्यायक इति ” । [सर्वं द० पृ० २४६]

अतएव वर्णों से जो स्फुटित हो, प्रकाशित हो वह स्फोट है। वर्णों से अभिव्यंग्य अर्थ जिससे स्फुटित होता है वह अर्थ की प्रतीति कराने वाला स्फोट है।

जैनाचार्यों ने वर्णों से ही अर्थ बोध माना है किंतु स्फोट नाम का कोई पदार्थ स्वीकार नहीं किया है इसके ऊपर 'तत्त्वार्थवातिक' के आधार से कहा जा चुका है अतः मीमांसक एवं वैयाकरणों की यह शब्द स्फोट कल्पना व्यर्थ है।

भर्तृहरि 'के वचनों से 'निरवयव स्फोट होता है' क्योंकि वे कहते हैं कि 'यह सब परमार्थ संवित् रूप सत्ता जाति ही सभी शब्दों का अर्थ है।'

ये लोग कहते हैं कि 'जीव से अभिन्न सच्चिदानंद परब्रह्म ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर ब्रह्मस्वरूपावस्थिति रूप मोक्षप्राप्त होता है। अभियुक्तों ने भी शब्द ब्रह्म में निपुण होने से परब्रह्म की प्राप्ति कही है, इसलिये शब्द शास्त्र को मोक्ष साधनत्व सिद्ध हुआ।

'वचन मल को हटाने वाला व्याकरण शास्त्र अपवर्ग का द्वार संपूर्ण विद्या पवित्र में और श्रेष्ठ कहा जाता है। सिद्धि की प्रथम सीढ़ी एवं मोक्षमार्ग का सीधा सरल राजमार्ग व्याकरण शास्त्र है'

[सर्व द० पृ० २५५]

इस प्रकार से इन वैयाकरण पाणिनि आदि ने 'शब्द' को परब्रह्म माना है और व्याकरण को ही मोक्ष मार्ग मान लिया है, किंतु यह गलत है जैनाचार्यों ने बताया है कि व्याकरण के बिना केवल वृद्धजनों के व्यवहार से भी शब्दों में वाचकत्व का नियम बन जाता है क्योंकि वाच्यवाचकभाव लोक व्यवहार के आधीन है। शब्द धर्म के साक्षात् साधन नहीं हैं। व्याकरण पद्धति से शुद्ध भी काव्य शास्त्र, कोक-शास्त्र, कुत्सित इतिहास आदि, विषयभोग और चारित्र मलिनता के भी कारण बन जाते हैं। यदि एकांत से शब्द को ही मोक्ष का मार्ग माना जावे तब तो व्रत अनुष्ठान ध्यान समाधि सब व्यर्थ हो जावेंगे। हां! परंपरा से द्रव्यश्रुत भावश्रुत के लिए कारण है एवं भावश्रुत केवलज्ञान के लिये बीजभूत है अतः संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत आदि शब्द भी परंपरा से धर्म के साधन हैं, क्योंकि विशिष्ट वक्ता के द्वारा कहे गये, विशिष्ट पुरुष द्वारा रचित, विशिष्ट अर्थ को कहने वाले वचन ही शुद्ध हैं। अतः द्रव्य दृष्टि से 'द्रव्यश्रुतरूप, शब्दब्रह्म अनादि निधन है एवं पर्याय दृष्टि से पुद्गल की पर्याय होने से सादि सांत है और भावश्रुत के लिए, यथार्थ ज्ञान के लिए कारण होने से उपास्य भी है इसे जिनवाणी सरस्वती भी कहते हैं। द्वादशांग या उसके अंशरूप परंपरागत आचार्य आदि प्रणीत शब्दशास्त्र और उनसे होने वाला अर्थज्ञान मोक्ष के लिये कारण होने से ग्राह्य है बाकी अन्य शास्त्र संसार वर्धक होने से अग्राह्य हैं। ऐसा समझना चाहिये।

स्याद्वाद सिद्धि

स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।

सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥ [आप्तमीमांसा]

अर्थ—‘स्यात्’ यह शब्द निपात है और यह सर्वथा एकांत का त्यागी होने से ‘कथंचित्’, ‘कथंचन’ आदि शब्दों के अर्थ का वाची है । जिसे हिन्दी भाषा में ‘भी’ शब्द से स्पष्ट समझ लेते हैं । जैसे-जीव नित्य भी है, अनित्य भी है इत्यादि । इसमें बताया है कि स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखता है एवं हेय और उपादेय को बतलाने वाला है ॥

सप्तभंगी का स्पष्टीकरण—

“प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी”—प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरोध विधि और प्रतिषेध की कल्पना सप्तभंगी है । यथा—स्यादस्ति जीवः । स्यात् नास्ति जीवः । स्यादस्ति नास्ति जीवः । स्यादवक्तव्यो जीवः । स्यादस्ति अवक्तव्यो जीवः । स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीवः, । स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो जीवः ।

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जीव ‘अस्तिरूप’ ही है । पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जीव ‘नास्तिरूप’ ही है । क्रम से स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जीव अस्ति नास्ति रूप है । युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जीव अवक्तव्य रूप है । स्वचतुष्टय को कहने से एवं युगपत् स्वपर चतुष्टय को न कह सकने से जीव अस्ति अवक्तव्य है । पर चतुष्टय की विवक्षा करने से एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से जीव नास्ति अवक्तव्य है । स्वपर चतुष्टय की विवक्षा से एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से जीव अस्ति नास्ति अवक्तव्य है ।

यहां पर प्रथम भंग में अस्तित्व की प्रधानता होने से शेष छह भंग गौण हैं । द्वितीय में नास्तित्व की प्रधानता से बाकी छह भंग गौण हैं ऐसे ही सर्वत्र समझना ।

यदि कोई कहे कि एक ही जीवादि वस्तु में विधि योग्य और निषेध योग्य अनन्त धर्म पाये जाते अतः उन अनन्त धर्मों की कल्पना तो ‘अनंतभंगी’ बनेगी न कि सप्तभंगी । आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना क्योंकि एक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और उन अनन्त धर्मों में एक-एक धर्म के प्रति सप्त भंगी का प्रयोग करना पड़ेगा अतः अनन्त सप्तभंगी बनेगी न कि अनन्त भंगी । जैसे—एक जीव में अस्ति, नित्य, भेद, एक आदि अनेकों धर्म हैं उन सबमें सप्तभंगी अलग अलग घटेगी । इनके प्रतिपक्षी धर्म स्वयं द्वितीय भंग में आ जाते हैं । ‘जीव अस्ति रूप है’ यह प्रथम भंग है तो ‘जीव नास्ति रूप भी है’ यह द्वितीय भंग बन जाता है ।

प्रश्न—वस्तु में सात ही भंग क्यों होते हैं ?

उत्तर—शिष्यों के द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं।

प्रश्न—शिष्यों द्वारा सात ही प्रश्न क्यों किये जाते हैं ?

उत्तर—क्योंकि सूत्र में 'प्रश्नवशादेव' ऐसा पद है।

प्रश्न—सात ही प्रश्न क्यों है ?

उत्तर—सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती है।

प्रश्न—सात प्रकार की ही जिज्ञासा क्यों है ?

उत्तर—उस संशय के विषयभूत वस्तु धर्म सात प्रकार के ही हैं। एवं यह सात प्रकार का व्यवहार निर्विषय नहीं है, क्योंकि इन सात प्रकारों से ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है। अतएव श्री भट्टकलंकदेव ने इस सप्तभंगी को 'स्याद्वादामृतगर्भिणी' कहा है।

शंका—एक ही वस्तु में विरुद्ध दो धर्म शीतउष्णस्पर्शवत् संभव नहीं हैं। जो वस्तु नित्य है वही अनित्य नहीं है, अन्यथा अनर्थ हो जावेगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस समय जीव, द्रव्यदृष्टि से नित्य है उसी समय वही जीव पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। देखो ! जीव नित्य न होवे तो पुनर्जन्म में वही जीव नहीं जावे और यदि अनित्य नहीं होवे तो मनुष्य पर्याय का नाश और देव पर्याय का उत्पाद नहीं हो सकता है, किंतु सभी आस्तिकवादी, जीव का पुनर्जन्म एवं उत्पाद विनाश मानते हैं, ऐसे अनेकों विरोधी धर्म अपेक्षा की शैली से एक ही वस्तु में रह जाते हैं, बाधा नहीं आती है।

प्रश्न—यदि अनेकान्त में भी यह विधि प्रतिषेध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकान्त में नास्तिकभंग प्रयुक्त होगा, उस समय एकान्तवाद का प्रसंग आ जावेगा, और अनेकान्त में भी अनेकान्त लगाने पर अनवस्था आ जाती है अतः अनेकान्त को अनेकान्त नहीं कहना चाहिये।

उत्तर—अनेकान्त में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त और एकान्त रूप से अनेकमुखी कल्पनायें हो सकती हैं।

एकान्त और अनेकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं—सम्यक् एकान्त, मिथ्या एकान्त। सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त।

सम्यक् एकान्त—प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक अंश को युक्ति सहित नय की विवक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त है। जैसे—जीव निश्चयनय से शुद्ध है या व्यवहार नय से अशुद्ध है। इसे सम्यक् नय भी कहते हैं।

मिथ्या एकान्त—वस्तु के एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, या सर्वथा नित्य ही है, यह दुर्गण्य है।

सम्यक् अनेकान्त—एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों का ग्रहण करने

वाला सम्यक् अनेकान्त हैं । जैसे जीव अनन्त धर्मात्मक है ।

मिथ्या अनेकान्त—वस्तु को अस्ति नास्ति आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना, अर्थ शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है ।

इन चारों में सम्यक् एकान्त नय कहलाता है एवं सम्यक् अनेकांत प्रमाण कहलाता है ।

यदि अनेकांत को अनेकांत ही माना जावे और एकांत का लोप किया जावे तो सम्यक् एकांत के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव के समान तत्समुदाय रूप अनेकांत का भी अभाव हो जावेगा और यदि एकांत ही माना जावे तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने से प्रकृत शेष का भी लोप हो जावेगा । अतः—

[तत्त्वार्थ वा.]

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।

अनेकान्तः प्रमाणात् तदेकान्तोऽर्पिताश्रयात् ॥

[स्वयंभूस्तोत्र]

अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है क्योंकि प्रमाण और नय से सिद्ध है । प्रमाण की अपेक्षा से अनेकांत अनेकान्त रूप है एवं अर्पित-विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त एकान्त रूप है । इस प्रकार से अनेकांत में भी सप्तभंगी घटित हो जाती है । यथा—

अनेकान्त कथंचित् अनेकान्त रूप है क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा रखता है ।

अनेकान्त कथंचित् एकान्त रूप है क्योंकि सम्यक् नय की अपेक्षा रखता है ।

अनेकान्त कथंचित् उभय रूप है ।

अनेकान्त कथंचित् अवक्तव्य है इत्यादि । अनेकान्त छल रूप एवं संशय रूप नहीं हैं ।

कोई कोई अनेकान्त को 'सर्वधर्म समन्वयवाद' कहकर सभी मिथ्या एकान्त धर्मों को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं किंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है क्योंकि कथंचित् शैली से एक वस्तु में अनेकों धर्मों को प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि से अविरोध सिद्ध करना अनेकान्त है न कि मिथ्या एकान्तों का समन्वय करना । इसलिये सामान्य सत् की अपेक्षा से सभी वस्तुयें एक रूप हैं ।

अवांतर सत्ता की अपेक्षा से सभी वस्तुयें पृथक्-पृथक् अस्तित्व वाली हैं । द्रव्यार्थिक नय से सभी वस्तुयें नित्य है । पर्यायार्थिक नय से सभी वस्तुयें अनित्य है । इत्यादि ।

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

इस प्रकार से प्रमेय समीक्षा नामक द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ ।

—०—

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

❀ श्री वीतरागाय नमः ❀

रचयित्री : विदुषी रत्न पू० अग्रिका श्री ज्ञानमती माता जी
(प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज संघस्था)

❀ मंगल स्तुति ❀

जिनने तीन लोक त्रैकालिक सकल वस्तु को देख लिया ।
लोकालोक प्रकाशी ज्ञानी युगपत् सबको जान लिया ॥
रागद्वेष जर मरण भयावह नहिं जिनका संस्पर्श करें ।
अक्षय सुख पथ के वे नेता, जग में मंगल सदा करे ॥१॥

चन्द्र किरण चन्दन गंगा जल से भी जो शीतल वाणी ।
जन्म मरण भय रोग निवारण करने में है कुशलानी है ॥
सप्तभंगं युत स्याद्वाद मय, गंगा जगत पवित्र करें ।
सबकी पाप धूली को धोकर, जग में मंगल नित्य करें ॥२॥

विषय वासना रहित निरंबर सकल परिग्रह त्याग दिया ।
सब जीवों को अभय दान दे निभय पद को प्राप्त किया ॥
भव समुद्र में पतित जनों को सच्चे अवलम्बन दाता ।
वे गुरुवर मम हृदय विराजो सब जन को मंगल दाता ॥३॥

अनंत भव के अगणित दुःख से जो जन का उद्धार करे ।
इन्द्रिय सुख देकर, शिव सुख में ले जाकर जो शीघ्र धरे ।
धर्म वही है तीन रत्नमय त्रिभुवन की सम्पत्ति देवे ।
उसके आश्रय से सब जन को भव-भव में मंगल होवे ॥४॥

श्री गुरु का उपदेश ग्रहण कर नित्य हृदय में धारें हम ।
क्रोध मान मायादिक तजकर विद्या का फल पावें हम ॥
सबसे मैत्री, दया, क्षमा हो सबसे वत्सल भाव रहे ।
सम्यक् 'ज्ञानमति' प्रगटित हो सकल अमंगल दूर रहे ॥५॥





भगतान ब्रह्मभदेव
आदि पाँच
तीर्थंकरों की
जन्मभूमि अयोध्या
का भव्य विकास
एवं वहाँ निर्मित
पाँच टोंकों का
जीर्णोद्धार

भगवान
पुष्पदंतनाथ
की जन्मभूमि
काकंदी
(देवरिया)
उ.प्र. में
निर्मित भव्य
जिनमंदिर



गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती
माताजी की आर्यिका दीक्षा भूमि
माधोराजपुरा (जयपुर) राज. में
निर्मित सम्मदशिखर की भव्य
प्रतिकृति

भगवान
 शांतिनाथ-
 कुंथुनाथ-
 अरहनाथ
 की जन्मभूमि
 हस्तिनापुर में निर्मित
 विश्व की
 अद्वितीय रचना
 जम्बूद्वीप रचना



भगवान
 महावीर
 जन्मभूमि
 कुण्डलपुर
 (नालंदा)
 बिहार
 में निर्मित
 नंदावर्त महल

भगवान
 ऋषभदेव
 की
 दीक्षाभूमि
 प्रयाग-
 इलाहाबाद
 में निर्मित
 कैलाशपर्वत
 (तपस्थली
 तीर्थ)

